हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता

हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता

अमित कुमार शर्मा

शाओलिन पब्लिकेशन्स
नई दिल्ली

हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता

© अमित कुमार शर्मा

Edition: 2005, 2011, 2018
Fourth Edition : 2026

Published by
Kautilya Prakashan
Shaolin Publications

Delhi: C-702, Delhi State CGHS Apartment, Plot no. 1,
Dwarka Sector 19, New Delhi 110075
Dehradun: House No 138, Khasra Number 193, Village Kandoli,
Near UPES University Dehradun.
Guwahati: House Number 501, Block 6, Larica Green Valley,
Dharapur, Guwahati, Assam 781017
e-mail: shaolinpublications@gmail.com

All rights reserved. No part of this book may be reproduced, stored in a retrieval system, or transmitted in any form or by any means—electronic, mechanical, photocopying, recording, or otherwise—without the prior written permission of the publisher, except in the case of brief quotations for review or academic purposes.

ISBN: 978-81-956129-8-7 (Hardback)
978-81-956129-4-9 (Paperback)

भगवान बुद्ध के लिए
जिन्होंने कलिकाल में सनातन धर्म को
एक नया स्वरूप, एक नई पद्धति
एवं
कुछ नई तकनीक दी

अनुक्रम

चतुर्थ संस्करण की प्रस्तावना 11

निवेदन 17

भूमिका 25

भाग - एक

महात्मा गांधी का 'हिन्द स्वराज' : गुलाम भारत में सम्प्रभुता एवं स्वावलम्बन के सूत्र की खोज

1. 'हिन्द स्वराज' का सभ्यता-मूलक सन्दर्भ 33
   - 1.1. भारत में कांग्रेस संगठन की तत्कालीन (1909) स्थिति 35
   - 1.2. बंगाल का बँटवारा और इसके परिणाम 37
   - 1.3. स्वराज का अर्थ एवं प्रकृति 42

2. आधुनिक सभ्यता की मीमांसा 44
   - 2.1. आधुनिक प्रजातंत्र की संसदीय प्रणाली 44
   - 2.2. सभ्यता का दर्शन 46

3. हिन्दुस्तान की गुलामी एवं आजादी के सूत्र 50
   - 3.1. हिन्दुस्तान क्यों हारा? 50
   - 3.2. हिन्दुस्तान कैसे आजाद हो? 52
   - 3.3. इटली और हिन्दुस्तान 53
   - 3.4. स्वराज के साधन के रूप में गोला-बारूद 55

4. अंग्रेजी राज में हिन्दुस्तान की दशा 58
4.1. दिग्भ्रमित भारत (हिन्दुस्तान) 58
4.2. आत्म विकास एवं सांस्कृतिक परिष्कार पर जोर 58
4.3. अंग्रेजी राज प्रेरित आधुनिक कुप्रचार 59
4.4. आधुनिक सभ्यता की तकनीक 60
4.5. राष्ट्र की अवधारणा 62
4.6. हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध 63
4.7. अंग्रेजी राज में भारतीय वकील एवं जज 65
4.8. अंग्रेजी राज और ऐलोपैथिक डॉक्टर 66

5. सनातन सभ्यता का नया शास्त्र 69
5.1. सच्ची सभ्यता कौन सी? 69
5.2. सत्याग्रह : आत्मबल 71
5.3. बुनियादी शिक्षा 74

निष्कर्ष 77

भाग - दो

हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता

भूमिका 87

1. लोक परम्पराओं का शास्त्र 95
2. भारतीय परम्परा के समकालीन प्रवक्ता 103
3. महात्मा गांधी और उनके आलोचक 143
4. यूरोपीय आधुनिकता एवं समकालीन भारतीय समाज 159
5. 'हिन्द स्वराज' का महत्त्व 170
6. समकालीन भारतीय समाज और महात्मा गांधी 179
7. स्वधर्म 187

8. जिन्दगी का दिव्य स्वरूप और 'हिन्द स्वराज' 191
9. सनातन सत्य 193
10. कुजात गांधीवादी लोहिया 198

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 206
Bibliography 212

चतुर्थ संस्करण की प्रस्तावना

गांधीजी का राजनीतिक जीवन, उनका व्यक्तिगत जीवन और उनकी पुस्तिका 'हिन्द स्वराज' (1909), तीनों को मैं अलग-अलग करके विश्लेषण करने के पक्ष में हूँ। बाल गंगाधर तिलक के निधन के बाद, गांधीजी ने कांग्रेस के सर्वोच्च नेता के रूप में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को सन्तुलित और समावेशी दिशा प्रदान की। उन्होंने आम भारतीयों को संबल दिया। यह पुस्तक गांधीजी के निजी जीवन पर केन्द्रित नहीं है बल्कि उनकी आस्था एवं विचारों, विशेष रूप से 'हिन्द स्वराज' के पाठ और उसके सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। गांधीजी की सनातन धर्म के प्रति गहरी आस्था थी, खासकर वर्णाश्रम धर्म और कर्म के सिद्धान्तों में। सनातन धर्म के मूल में वर्णाश्रम धर्म और कर्म का सिद्धान्त निहित है और महात्मा गांधी ने इन सिद्धान्तों को अपने जीवन और दर्शन में गहराई से आत्मसात किया था। वर्ण का सम्बन्ध यूरोपीय सभ्यता के वोकेशनल प्रशिक्षण और प्रोफेशनल एथिक्स से है। जाति या प्रजाति जैसी अवधारणा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आश्रम व्यवस्था जीवन को चार भागों में बाँटकर शरीर की बदलती प्रकृति और संस्कृति के बीच समन्वय की अद्‌भुत व्यवस्था है। यह एक तरह का 'आइडियल टाइप' या सांस्कृतिक वर्गीकरण है।

उनकी अहिंसा के प्रति दृढ़-निष्ठा में एक बाल-सुलभ सादगी और विश्वास झलकता था, जिसे भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों ने नजरअन्दाज किया और उनके द्वारा प्रस्तुत सनातनी परम्पराओं की मूल व्यवस्था और आस्था में उन्हें कोई गम्भीर त्रुटि नहीं दिखी। फर्डिनैंड टॉनीज़ की तरह गांधी भी पारम्परिक समुदाय और आधुनिक समाज के बीच गुणात्मक अन्तर को रेखांकित करते थे, जबकि विभिन्न तरह के पारम्परिक समुदायों में अन्तर्निहित सहधर्मिता (होमोलॉजी) को रेखांकित करते थे।

उनके समकालीनों में कई लोग उनकी इस धारणा से सहमत नहीं थे कि हिंसक भीड़, दंगे, या युद्ध को अहिंसक माध्यम से जैसे हृदय परिवर्तन द्वारा बदला जा सकता है। फिर भी, यह निर्विवाद है कि हिंसा और दंगों से एक कल्याणकारी, सर्वसमावेशी और समृद्ध समाज का निर्माण नहीं हो सकता। इसके लिए बुद्ध और गांधी जैसे महान विचारकों के दर्शन ही मार्गदर्शन प्रदान कर सकते हैं।

आधुनिक भारत के निर्माण में गांधीजी की भूमिका निर्णायक थी। भले ही चर्चिल, माउंटबेटन, जिन्ना, नेहरू और अम्बेडकर जैसे नेताओं ने उनके आस्था के नियमों और संरचना को परिमार्जित करने में प्रत्यक्ष रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। गांधीजी के सच्चे वैचारिक उत्तराधिकारी न सरदार वल्लभभाई पटेल, न जवाहरलाल नेहरू, न राजेन्द्र प्रसाद और न ही मौलाना आजाद थे। उनके सच्चे वैचारिक उत्तराधिकारी विनोबा भावे, खान अब्दुल गफ्फार खान और जे. सी. कुमारप्पा थे। हमारे समकालीन समय में, गांधीवादी विचारधारा को आगे बढ़ाने वालों में ए.के. सरण, धर्मपाल और जे.पी.एस. उबेरॉय जैसे विद्वानों का योगदान उल्लेखनीय रहा है। व्यक्तिगत जीवन में गांधीजी एक आधुनिक व्यक्ति थे, भले ही वे परम्परा के प्रवक्ता थे।

भारत में सोशल मीडिया (2008 से 2010 के बीच) के विकास के पहले से ही गांधीजी की एकमात्र बुनियादी किताब 'हिन्द स्वराज' (1909) को दरकिनार कर उनके जीवन को विमर्श का विषय बना दिया गया था। इसकी शुरुआत उनके पोते राजमोहन गांधी ने कर दी थी। 'द गुड बोटमैन' (1995) नामक अपनी किताब में राजमोहन गांधी ने 'हिन्द स्वराज' को ऑउटडेटेड अर्थात काल-बाह्य कह दिया था। कुसुमलता केडिया और शंकर सरण जैसे लोग उनके व्यक्तिगत जीवन की रासलीला में रस ले रहे थे। अन्य लोग गांधीजी के बदलते विचारों को 'हिन्द स्वराज' पर थोपने लगे थे। परन्तु जीवन के अन्तिम क्षणों तक गांधीजी की आस्था 'हिन्द स्वराज' में बनी रही।

'हिन्द स्वराज' के पाठ में कुछ व्यक्त सिद्धान्त हैं जो साध्य और साधन के बीच जटिल सम्बन्ध, अधिकारों और कर्तव्यों के बीच सन्तुलन और अंतर-धार्मिक सद्भाव की खोज पर प्रकाश डालते हैं; ये सभी तत्व अभी भी अपना मौलिक महत्त्व बनाए हुए हैं। यह संस्करण 'हिन्द स्वराज' के पाठ को गहराई और स्पष्टता प्रदान करने के लिए लिखा और परिमार्जित किया

गया है, जिससे आज के समकालीन समय में भी उनकी निरन्तर प्रासंगिकता सुनिश्चित हो सके। इस प्रकार, यह पाठकों को विषय-वस्तु के साथ सक्रिय रूप से जुड़ने के लिए प्रोत्साहित करता है। विश्व-ग्राम के सजग पारम्परिक व्यक्तियों, समुदायों एवं समूहों को सनातनी बने रहने के लिए संबल प्रदान करने में 'हिन्द स्वराज' की प्रासंगिकता घटी नहीं है, बल्कि बढ़ी है। पुस्तक की परिस्कृत संस्करण में कई नये अध्याय शामिल किये गये हैं जो वैश्विक और राष्ट्रीय परिवर्तनों के सन्दर्भ में 'हिन्द स्वराज' की प्रासंगिकता का सारगर्भित और सटीक विश्लेषण प्रदान करते हैं। यह परिमार्जित पुस्तक वर्तमान घटनाओं और वर्तमान में विकसित अनुसंधान को सम्बोधित करने का एक प्रयास है। 'हिन्द स्वराज' सिर्फ एक अकादमिक जुगाली नहीं है। 'हिन्द स्वराज' लिखकर गांधीजी ने अपने समय के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और वैचारिक बहस में एक सीधा हस्तक्षेप किया था।

बंगाल विभाजन के उपरान्त, 1906 के बाद विकसित हिंसक राष्ट्रवाद के उदय के बाद 1915 से 1920 के बीच धीरे-धीरे गांधीजी को (तिलक महाराज की 1920 में मृत्यु के बाद) स्वतंत्रता आन्दोलन के सर्वोच्च नेता बनने का मौका मिला। 'हिन्द स्वराज' का प्रकाशन 1909 में हो चुका था।

महात्मा गांधी ने 'हिन्द स्वराज' को अपनी मातृभाषा गुजराती में लन्दन से दक्षिण अफ्रीका तक पानी की जहाज यात्रा के दौरान लिखा था। गांधीजी ने 'हिन्द स्वराज' को संवादात्मक शैली में लिखा, जिसमें एक 'रीडर' (पाठक) है जो व्याकुल है और हिंसात्मक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि 'एडिटर' (सम्पादक) के रूप में गांधीजी स्वयं उपस्थित हैं। गांधीजी भारत में आने से पहले लियो टॉलस्टॉय का लेख 'एक हिन्दू के नाम पत्र' (लेटर टू ए हिन्दू, 1908) पढ़ चुके थे। रस्किन की पुस्तिका सर्वोदय (अन टू द लास्ट) की तरह 'एक हिन्दू के नाम पत्र' का प्रभाव 'हिन्द स्वराज' पर स्पष्ट है।

'हिन्द स्वराज' गांधीजी की व्यक्तिगत घोषणा-पत्र और आधुनिक सभ्यता की सम्यक समीक्षा के रूप में एक सनातनी दस्तावेज है। उन्होंने आधुनिक सभ्यता को 'शैतान का साम्राज्य' के रूप में देखा और इसे भारत की पारम्परिक सभ्यता के साथ तुलना करने पर स्पष्ट रूप से विपरीत पाया। भारत की पारम्परिक सभ्यता के केन्द्र और परिधि में गांधीजी को

ईश्वरीय लीला की अभिव्यक्ति दिखी। उनका विश्वास था कि भारत की गुलामी ब्रिटिश औपनिवेशिक शक्ति की श्रेष्ठता के कारण नहीं थी, बल्कि भारतीय लोगों ने अंग्रेजों को शासन चलाने के लिए स्वेच्छा से दान दिया था और भारतीय लोग जब चाहेंगे इसे वापस ले लेंगे। उन्होंने आधुनिक समाज को एक 'आत्माहीन मशीन' के रूप में देखा जो पशुबल और केन्द्रीकरण पर आधारित था जबकि भारतीय समाज की बुनियाद आत्मबल और ईश्वरीय लीला से युक्त प्रकृति, मनुष्य और ब्रह्मांड के समरस वितान पर खड़ी है।

आधुनिक मशीनों के बारे में गांधीजी की चिन्ता स्वाभाविक थी क्योंकि इससे 'अपने सच्चे स्व की विस्मृति' होती है। यह दृष्टिकोण यह दर्शाता है कि भौतिक लाभ और तकनीकी सुविधा की अनियंत्रित खोज जब नैतिकता के नियंत्रण से बाहर हो जाती है तब, अनिवार्य रूप से आत्म-साक्षात्कार और मानवीय गरिमा के क्षरण की ओर अपना मुँह मोड़ती है। गांधीजी की पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में मशीन और प्रौद्योगिकी के प्रति उनका विरोध केवल सतही नहीं, बल्कि गहरे दार्शनिक विचारों से प्रेरित है, जो आधुनिकता की आलोचना की परम्परा का हिस्सा है। उनके विचारों को जॉन रस्किन और मार्टिन हाइडेगर जैसे पश्चिमी दार्शनिकों के साथ जोड़कर देखने से उनकी दृष्टि की गहराई स्पष्ट होती है। रस्किन ने औद्योगिक क्रान्ति की उस प्रक्रिया की आलोचना की, जो श्रमिकों से उनकी रचनात्मकता और आत्मा छीन लेती थी। उनके लिए मशीन से बनी वस्तुओं में वह सौन्दर्य और मानवीय स्पर्श नहीं होता, जो हस्तशिल्प में होता है। उनका विरोध सौन्दर्य और नैतिकता पर आधारित था जो श्रम के अमानवीकरण को उजागर करता था। दूसरी ओर, हाइडेगर ने अपनी रचना 'प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित प्रश्न' (1954) में बताया कि आधुनिक तकनीक प्रकृति और मनुष्य को केवल संसाधन में बदल देती है, जिससे मनुष्य अपने वास्तविक अस्तित्व से दूर हो जाता है। गांधीजी ने 'हिन्द स्वराज' में मशीन को आत्माहीन सभ्यता का प्रतीक माना, जो मनुष्य को नैतिकता, प्रकृति और स्वराज से विमुख कर देती है।

ये तीनों विचारक, भले ही अलग-अलग सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से आए हों, प्रौद्योगिकी के प्रभावों को लेकर एक चिन्ता साझा करते हैं। वे मानते हैं कि आधुनिक तकनीक मनुष्य, प्रकृति, श्रम और आत्मा के बीच के गहरे रिश्ते को तोड़ देती है। हाइडेगर इसे 'ढाँचे में ढालने' की

प्रक्रिया कहते हैं; रस्किन इसे 'सौन्दर्य और नैतिकता' की हानि मानते हैं; और गांधी इसे 'लालच और हिंसा' को बढ़ावा देने वाली सभ्यता के रूप में देखते हैं। तीनों ही प्रौद्योगिकी को केवल एक साधन मानने की उपयोगितावादी सोच की आलोचना करते हैं जो नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को नजरअन्दाज करती है।

गांधीजी की समावेशी दृष्टि सभी धर्मों के सामंजस्य पर अधिक बल देती है। उनके सत्याग्रह की अवधारणा को मार्टिन लूथर किंग ने आध्यात्मिक रूप से प्रेरणादायी कहा था; इससे अहिंसक नैतिक शक्ति का प्रदर्शन होता है। गांधीजी की दृष्टि इस अर्थ में समावेशी थी चूँकि आधुनिकता के विरोधी और परम्परा के समर्थक अनेक विचारों को समाहित कर लिया था। जब गांधीजी हिन्द स्वराज में पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हैं तो रस्किन, टॉलस्टॉय, विलियम मौरिस और अन्य से काफी प्रभावित और प्रेरित हुए दिखते हैं। अत: गांधीजी को समझना एक पारम्परिक व्यक्ति के लिए सरल और आधुनिक व्यक्ति के लिए दुष्कर कार्य है। परम्परा में जब हम ब्रह्मांड को समझने का प्रयत्न करते हैं, हम जितना जानते हैं, उतना ही व्यावहारिक रूप से पर्याप्त लगता है। लेकिन क्या हम सब कुछ जानते हैं? नहीं। इसलिए हम प्रयासरत रहते हैं। गांधी के 'हिन्द स्वराज' को समझना परम्परा को सम्पूर्णता में समझने जैसा और ब्रह्मांड को समझने जैसा कार्य है। आत्मानुभूति और ब्रह्मानुभूति के दो चरणों से गुजरने के बाद यह बहुत सरल कार्य है। ए.के. सरन इसे ऑटोलॉजी कहते है। लेकिन आधुनिक व्यक्तियों को ऑटोलॉजी को एक अध्ययन पद्धति (मेथड) मानना अटपटा लगता है। फलस्वरूप, गांधी के 'हिन्द स्वराज' के पाठ (टेक्सट) को समझना मुश्किल कार्य है जबकि बिना समझे इसे खारिज कर देना बहुत आसान काम है।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण 1984 से 2004 तक लगातार किये गये शोध का परिणाम था। यह 2005 में छपा था। इसका हिन्दी भाषी समाज में उत्साहवर्धक स्वागत हुआ। इसका दूसरा संस्करण 2011 में और तीसरा संस्करण 2018 में छपा। कोरोना लॉकडाउन के दौरान इसकी लोकप्रियता अपनी चरम पर पहुँच गयी। 20 दिसम्बर, 2020 को विश्व-ग्राम में भूमितत्त्व युग शुरू हुआ। हर 200 वर्षों के बाद तत्त्व बदल जाता है। 20 दिसम्बर, 2020 से पहले अग्नि तत्त्व युग चल रहा था।

इसी में यूरोप में आधुनिकता, औद्योगीकरण और उपनिवेशवाद फला-फूला। 18वीं शताब्दी तक भारत और चीन भी वैश्विक-अर्थव्यवस्था के केन्द्र थे जबकि यूरोप के देशों की स्थिति केन्द्र के बाहर परिधि में दयनीय और नाजुक थी। अग्नि तत्त्व युग के अन्त से 116 साल पहले महात्मा गांधी ने भूमितत्त्व के विश्वग्राम के केन्द्र भारत के पुनरोदय की प्रस्तावना यानी मेनिफेस्टो 'हिन्द स्वराज' के नाम से लिख दी। पूर्णत: संशोधित एवं परिष्कृत चतुर्थ संस्करण का प्रकाशन 2025 में होना हर्ष का विषय है।

इस पुस्तक को तैयार करने में मुझे कई विद्वानों और पाठकों का सुझाव प्राप्त हुआ है। विशेष रूप से सुश्री कपिला वात्स्यायन, श्री अशोक वाजपेयी, श्री प्रभाष जोशी, श्री उदयन वाजपेयी, श्री मोहन भागवत, श्री मुरली मनोहर जोशी, श्री गोविन्दाचार्य, श्री बालकृष्ण उत्तम राव नाईक, श्री सतीश जैन, श्री अरुण कुमार, श्री धर्मपाल, श्री सी.एन. वेणुगोपाल, श्री वागीश शुक्ल, श्री टी.के. उम्मन, श्री योगेन्द्र सिंह, स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती, श्री विजय बहादुर सिंह, श्री मैनेजर पाण्डेय, श्री आनन्द कुमार, श्री अजित कुमार पांडेय, श्री आर.के. मिश्र, श्री वृजेन्द्र पांडेय, श्री डी.आर. नागराज, श्री ओम प्रकाश सिंह, श्री सौरभ शर्मा एवं श्री सुधांशु त्रिवेदी। इसके अलावा अनेक पाठकों ने पत्र द्वारा अपनी प्रतिक्रिया दी, जिससे संशोधन एवं परिवर्तन में मदद मिली। चतुर्थ संस्करण के प्रकाशन में श्री सुभाष डबास, वन्दना शर्मा, आद्या शर्मा, निशान्त, अखिल, सूरज, विनय गुप्ता एवं अन्य लोगों का महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। मैं इन सभी का दिल से आभारी हूँ।

01, माघ
कृष्ण पक्ष, प्रतिपदा
2081 पिंगल, विक्रम संवत्
14 जनवरी 2025, मंगलवार

—अमित कुमार शर्मा
सामाजिक व्यवस्था अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली-110067

निवेदन

इस पुस्तक की रचना-प्रक्रिया लम्बी है। इसका प्रारम्भ 1984-86 के बीच दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में जे.पी.एस. उबेरॉय के मार्गदर्शन में शुरू हुआ था। 1985-86 में गांधी और भारतीय परम्परा के बारे में जे.पी.एस. से अनवरत चर्चा होती रही। जे.पी.एस. उन दिनों अपने को यूरोपीय सभ्यता का विशेषज्ञ कहते थे और भारतीय समाज पर कोई लेख लिखने या भारत के बारे में कोई कोर्स पढ़ाने से बचते थे। बाद में उन्होंने सिक्ख धर्म के बहाने मध्यकालीन भारत और गांधी के बारे में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक की रचना की। वे महात्मा गांधी को कबीर, तुकाराम और नानक की परम्परा में रखते हैं। साथ ही वे गांधीजी की सर्वोदय (रस्किन की पुस्तक 'अंटु दिस लॉस्ट' पर आधारित), प्राकृतिक चिकित्सा (नेचर क्योर), ईश्वर की खोज (इन सर्च ऑफ द सुप्रीम), साउथ अफ्रीका में सत्याग्रह (सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका), मेरे सत्य के प्रयोग (माइ एक्सपेरिमेंटस विथ ट्रुथ) जैसी रचनाओं को 'हिन्द स्वराज' की तुलना में ज्यादा महत्त्वपूर्ण कृतियाँ मानते रहे हैं।

सन् 1986 से 1995 के बीच स्वामी रामकृष्ण (वचनामृत), स्वामी विवेकानन्द, स्वामी अभेदानन्द, आनन्द कुमारस्वामी, धर्मपाल, रामस्वरूप, ए.के. सरन, रामविलास शर्मा, बी.आर. अम्बेडकर, राहुल सांकृत्यायन, आचार्य नरेन्द्रदेव, जवाहरलाल नेहरू, राममनोहर लोहिया, जगन्नाथ उपाध्याय, रेने गुयेनों, मार्को पैलिस, काउण्ट केसरलिंग, सैयद हुसैन नम्र, हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, विद्यानीवास मिश्र, एन.के. बोस, आशीष नन्दी एवं भीखू पारेख आदि की रचनाओं के आधार पर अपने समाजशास्त्रीय ज्ञान को परिमार्जित करता रहा। इसी प्रक्रिया में समाजशास्त्र और इंडोलॉजी (भारत-विद्या) के आपसी सम्बन्धों को समझने के लिए

बंगाली पुनर्जागरण, यूरोपीय पुनर्जागण एवं ज्ञानोदय, यूरोपीय धर्म सुधार आन्दोलन एवं यूरोपीय धर्म सुधार विरोधी आन्दोलन एवं सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन की प्रेरणा मिली।

इस बीच जे.पी.एस. उबेरॉय के अलावा स्वामी मुक्तानन्द सरस्वती, धर्मपाल, विद्यानीवास मिश्र, किशन पटनायक, सी.एन. वेणुगोपाल, योगेन्द्र सिंह, पैट्रिसिया उबेरॉय, टी.के. ओम्मन, एम.एस.ए. राव, आंद्रे बेते, ए.एम. शाह, टी.एन. मदान, अमिताभ घोश, रामविलास शर्मा, जे.एस. गांधी, आर.के. जैन, जे.के. बजाज, बनवारी, एम.एन. पाणिनी, दीपांकर गुप्ता, नन्दू राम, इहसानुल हक, तिपलुत नौंब्री एवं राकेश कपूर से भारतीय समाज, संस्कृति एवं सभ्यता के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बातचीत होती रही। इनमें स्वामी मुक्तानन्द सरस्वती, धर्मपाल एवं वेणुगोपाल की गांधी एवं भारत के बारे में दृष्टि जे.पी.एस. उबेरॉय की दृष्टि से थोड़ी अलग रही है। जे.पी.एस. उबेरॉय आधुनिक पश्चिमी सभ्यता में विज्ञान एवं तकनीक की भूमिका को सर्वोपरि मानते हैं जबकि मुक्तानन्द सरस्वती एवं वेणुगोपाल विज्ञान एवं तकनीक की तुलना में मानवतावाद जैसे सामाजिक मूल्यों एवं मनुष्य केन्द्रित आधुनिक कला की भूमिका को ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। मुक्तानन्द सरस्वती पर महात्मा गांधी, विनोबा भावे एवं भारत की पौराणिक परम्परा का प्रभाव रहा है जबकि वेणुगोपाल पर कुमारस्वामी एवं जी.एस. घुर्ये का प्रभाव रहा है। धर्मपाल भी जे.पी.एस. की तरह गांधीवादी विद्वान हैं लेकिन वे भी पश्चिमी सभ्यता में विज्ञान एवं तकनीक की तुलना में प्रबन्धकीय कौशल एवं साम्राज्यवादी नौकरशाही की भूमिका को ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी की दृष्टि में आधुनिक सभ्यता एवं भारतीय सभ्यता का परस्पर सम्बन्ध अलग-अलग स्वरूपों में अभिव्यक्त हुआ है। आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के बारे में भारत में मूलत: तीन दृष्टिकोण रहे हैं—

(1) आधुनिक यूरोप मूलत: ग्रीक एवं रोमन पैगनिज्म का पुनर्वतरण है। खासकर इसकी विज्ञान-तकनीक, प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं एवं प्रबन्धकीय तकनीक का भारतीय परम्परा के साथ अद्‌भुत साम्य है।

(2) आधुनिक यूरोप की सभ्यता मूलत: ईश्वर विरोधी एवं ईश्वर-निरपेक्ष सभ्यता है जिसकी अभिव्यक्ति साम्राज्यवादी संरचना को सार्वभौमिक स्वरूप

प्रदान करने में हुई है। इस सभ्यता का आधार स्वार्थ, लालच एवं भोग की राक्षसी प्रवृत्ति है। इस दृष्टि के अनुसार आधुनिक यूरोपीय सभ्यता में व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन का आधार धर्म एवं आस्था के बदले मानवनिर्मित एवं मानवकेन्द्रित (संवैधानिक) कानून है। इस तरह के कानून के केन्द्र (न्यायालयों) में सत्य के बदले तर्क को महिमामंडित किया जाता है और निश्पक्ष कानून को फख से अंधा एवं बहरा माना जाता है। फलस्वरूप वकील के तर्क एवं गवाह का पक्ष सत्य एवं न्याय पर भारी पड़ जाता है। पहले प्रकार की दृष्टि का आरम्भ असजग रूप में स्वामी विवेकानन्द की रचनाओं में देखा जा सकता है जबकि इसकी सजग अभिव्यक्ति रामस्वरूप की रचनाओं में है। 'हिन्द स्वराज' और महात्मा गांधी की दृष्टि मूलत: दूसरे प्रकार की है।

(3) इसी क्रम में एक दृष्टिकोण भारतीय मार्क्सवादियों का भी रहा है।

वे मानते हैं कि आधुनिक यूरोपीय सभ्यता का आधार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एवं प्रजातांत्रिक राज्यव्यवस्था है। कार्ल मार्क्स खुद मानते थे कि पूँजीवाद का विकास उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों के बीच द्वंद्वात्मक सम्बन्धों पर आधारित होता है। उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन का आधार विज्ञान एवं तकनीक होते हैं जबकि उत्पादन के सम्बन्धों का आधार उत्तराधिकार, श्रम एवं वितरण आदि से सम्बन्धित कानून होते हैं। प्रजातांत्रिक व्यवस्था का आधार भी कानून और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था होती है। भारतीय विश्वविद्यालयों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण ज्यादा लोकप्रिय है जबकि भारतीय समाज में पहले वाले दोनों दृष्टिकोण ज्यादा लोकप्रिय हैं। कुल मिलाकर मार्क्सवादियों की दृष्टि को भारतीय समाज में उतना आदर नहीं मिल पाया जितना यूरोपीय समाज में मिला। इसका एक कारण सम्भवत: यह है कि कानून और विज्ञान-तकनीक का महत्त्व उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों में आ ही जाता है। भारतीय समाज में मार्क्सवादी दृष्टिकोण के लोकप्रिय नहीं होने का एक अन्य कारण इसका अनीश्वरवादी एवं अधार्मिक होना भी माना जाता है। राहुल सांकृत्यायन, डी.पी. मुखर्जी एवं रामविलास शर्मा जैसे कुछ भारतीय मार्क्सवादियों ने मार्क्स की विश्लेषण पद्धति और भारतीय परम्परा के बीच समन्वय करके अपनी दृष्टि प्रस्तुत करने की कोशिश की। इसमें यूरोपीय सभ्यता के बारे में इनकी दृष्टि तो मार्क्सवादी बनी रही लेकिन भारतीय

सभ्यता को समझने के लिए इन लोगों ने मार्क्सवादी दृष्टि को अपर्याप्त माना, परन्तु भारतीय परम्परा के स्वरूप के बारे में राहुल सांकृत्यायन की बौद्ध दृष्टि एवं रामविलास शर्मा की वैष्णव दृष्टि में अन्तर्विरोध बना रहा। डी.पी. मुखर्जी पर बंगाल नवजागरण की आधुनिकता का प्रभाव ज्यादा था। फलस्वरूप वे भारतीय परम्परा की साम्प्रदायिक धाराओं का महत्त्व ठीक से समझ नहीं पाये।

मैं 'हिन्द स्वराज' को भारतीय सभ्यता के समकालीन विमर्श का आधार ग्रन्थ मानता हूँ चूँकि इसमें तीनों प्रकार के दृष्टिकोणों से सम्बन्धित सवालों का भारत के ऐतिहासिक सन्दर्भ में विश्लेषण करने की कोशिश की गई है। अत: गांधी और 'हिन्द स्वराज' के सन्दर्भों को समझने की प्रेरणा बलवती होती गयी। 'हिन्द स्वराज' के बारे में यह धारणा रूढ़ है कि इस पर रस्किन, टॉलस्टॉय एवं थोरों जैसे विदेशी विद्वानों का प्रभाव ज्यादा है। दूसरी ओर 'हिन्द स्वराज' के मूल पाठ के ऐतिहासिक सन्दर्भ एवं इसमें प्रयुक्त अवधारणाओं के सांस्कृतिक सन्दर्भ पर भारत की सनातन परम्पराओं का प्रभाव भी स्पष्ट है। असल में 'हिन्द स्वराज' एक सभ्यता-मूलक विमर्श है जिसका उद्देश्य पारम्परिक संस्कृति एवं आधुनिक संस्कृति के बीच का अन्तर्विरोध स्पष्ट करना है ताकि भारत के आम नर-नारियों को स्वराज की अनुभूति प्राप्त हो सके।

सन् 1995 के आस-पास मुझे 'हिन्द स्वराज' के सांस्कृतिक सन्दर्भ को समझने के लिए विश्वविद्यालयी विमर्श की पश्चिम-परस्ती एवं विश्वविद्यालय के बाहर होने वाले विमर्श की सम्प्रदाय सापेक्षता के कारण पैदा होने वाले असन्तुलन का अहसास होने लगा। फलस्वरूप मैंने भारतीय सम्प्रदायों पर स्वतंत्र एवं तुलनात्मक अध्ययन तथा चिन्तन शुरू कर दिया। मेरा जन्म एक सनातनी परिवार में हुआ था। मेरे पिताजी वाचिक परम्परा के गहरे विद्वान हैं और मेरे परिवार की कई पीढ़ियाँ वाचिक परम्परा के गहरे अर्थों को सजाती-सँवारती रही हैं। मेरे पूर्वजों की ज्योतिष एवं आगम-निगम की परम्परा में गहरी साधना रही है, परन्तु वे भगवान बुद्ध और महात्मा गांधी को सहानुभूतिपूर्वक कभी समझ नहीं पाये। 1995 तक अगर मैं विश्वविद्यालयों के विमर्श की मुख्यधारा से दूर जा चुका था तो अपने दीक्षा गुरु स्वामी करपात्री जी की सनातनी परम्परा से भी खुद को पूरी तरह सहमत नहीं पाता था।

इसी बीच आचार्य नागार्जुन एवं आचार्य असंग की बौद्ध उपासना पद्धति के प्रति मेरा अनुराग बढ़ा और 1995 से 2000 के बीच का अधिकांश समय वैदिक परम्परा एवं श्रमण परम्परा के अन्त:सम्बन्ध समझने में लगा। 1993 से 1999 के बीच मैं जनता वैदिक कॉलेज, बड़ौत के स्नातकोत्तर विभाग में समाजशास्त्र का शिक्षक था। बड़ौत में ही रहकर भरत सिंह उपाध्याय ने बौद्ध एवं जैन परम्परा का गहन अध्ययन किया था। उनकी पुस्तकें पढ़ने का सौभाग्य मिला। बड़ौत जैन विद्या के अध्ययन के लिए भी बहुत शुभ रहा। बड़ौत आर्य समाज का भी महत्त्वपूर्ण गढ़ रहा है। आर्य समाज के साहित्य का भी अध्ययन किया। बड़ौत में सनातनी परम्परा को समझने के लिए स्वामी कृष्णबोधाश्रम महाराज, स्वामी करपात्री महाराज, स्वामी अखंडानन्द तथा उड़ियाबाबा के उपदेशों एवं मधुसूदन ओझा तथा गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की रचनाओं से परिचित होने का सौभाग्य मिला। आचार्य रजनीश की कृति महावीर : मेरी दृष्टि में एवं गोरखनाथ पर उनके प्रवचनों को भी देखने का अवसर मिला। तिलक महाराज, समर्थ रामदास, सन्त तुकाराम एवं सन्त ज्ञानेश्वर की रचनाओं को भी मूलत: इसी दौरान समझ पाया। रामकृष्ण वचनामृत एवं सूर्यकांत त्रिपाठी निराला का सम्बन्ध भी इसी बीच समझा। सम्प्रदायों एवं अखाड़ों का इतिहास भी इसी क्रम में हाथ लगा।

1999 में मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में शिक्षक बनकर आया। 1986 से 1993 तक मैं यहाँ शोधार्थी रह चुका था। यहाँ मुझे आधुनिक भारतीय सामाजिक चिन्तन नामक कोर्स पढ़ाने का अवसर मिला। इसमें स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर, श्रीअरबिन्दो एवं आनन्द कुमारस्वामी का तुलनात्मक शिक्षण करने का अवसर मिला। इस तुलनात्मक अध्ययन में विवेकानन्द के साथ स्वामी रामकृष्ण की, महात्मा गांधी के साथ नेहरू, जिन्ना, सावरकर एवं टैगोर की, डॉ. अम्बेडकर के साथ फुले, नायकर और लोहिया की, श्रीअरबिन्दो के साथ स्वामी दयानन्द, एनी बेसेंट और अल्लामा इकबाल की, आनन्द कुमारस्वामी के साथ राममोहन राय, विद्यासागर, तिलक, राणाडे एवं सर सैयद अहमद खाँ की दृष्टि पर चर्चा होती रहती थी। 'हिन्द स्वराज' को समझने में इससे सुविधा हुई।

सन् 2003 एवं 2004 के बीच कौटिल्य संस्थान, सोसाइटी फॉर इंडियन थॉड एण्ड एक्शन (संक्षेप में, सीता) एवं शाश्वत भारती के तत्वाधान में मुझे 'हिन्द स्वराज' के बीस अध्यायों पर व्याख्यान देने का अवसर मिला। इन व्याख्यानों पर हुई परिचर्चा से भारतीय सभ्यता के अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों के बीच बहने वाली सनातनी धारा को समझने का मौका मिला। 'हिन्द स्वराज' के मूल पाठ (टेक्स्ट) एवं इसके सभ्यता-मूलक विमर्श पर मैंने जो व्याख्यान दिया था उसी का संशोधित रूप अब पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है। इसके संशोधन में वागीश शुक्ल, रबीन्द्र रे, सतीश जैन, मकरंद परांजपे, गोविंदाचार्य, मैनेजर पाण्डेय, अश्विनी कुमार, दीपेन्द्र पाठक, लक्ष्मीनिवास झुनझुनवाला के साथ हुए संवादों से बहुत लाभ हुआ है। जे.एन.यू. के मेरे विद्यार्थियों एवं कौटिल्य संस्थान के शोधार्थियों की प्रतिक्रियाओं एवं जिज्ञासाओं ने भी दिशा निर्धारण में मदद की। पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में वंदना शर्मा एवं उनके साथियों ने बहुत मेहनत की। इसके कुछ अंशों का प्रकाशन 'भारतीय पक्ष' में हो चुका है। इसके सम्पादक मंडल की प्रतिक्रिया उपयोगी थी। हाल के वर्षों में शारीरिक रूप से मैं काफी रूग्ण रहा हूँ। इस बीच मेरे परिवार के सदस्यों, साथियों, छात्र-छात्राओं एवं शुभ चिन्तकों ने मुझे बहुत सहारा दिया है। वागीश शुक्ल ने इसकी भूमिका लिखकर सम्बल दिया है। अनेक लोगों ने इसके प्रकाशन में जो उत्साह दिखलाया है, उससे मुझे भी अपना श्रम सार्थक लगा है। मैं उपरोक्त सभी लोगों का दिल से आभारी हूँ।

इस पुस्तक के हर वाक्य या हर स्थापना का स्रोत एक पारम्परिक व्यक्ति के रूप में मुझे कहीं-न-कहीं से प्राप्त हुआ है। इस दृष्टि से यह पश्चिमी अर्थों में मेरी लिखी हुई मौलिक रचना नहीं है। किसी भी पारम्परिक समाज एवं सभ्यता में ज्यादातर पुस्तकें इसी प्रकार प्रस्तुत की जाती रही हैं। इस तरह, मैं भी मात्र प्रस्तुतकर्ता, संकलनकर्ता या सम्पादक हूँ, परन्तु मेरे प्रस्तुतीकरण में भी कोई मौलिकता नहीं है। कलागुरु आनन्द केंटिश कुमारस्वामी, उपन्यासकार हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं समाजशास्त्री ए. के. सरण जैसे लेखकों ने बीसवीं शताब्दी में इस बात को बार-बार रेखांकित किया है कि मौलिक लेखन आधुनिक गैर-यूरोपीय विश्वविद्यालयों के पश्चिम परस्त विद्वानों में भी प्रचलित हो रहा है।

महर्षि वशिष्ठ के अनुसार : खुद कमाना और खाना प्रकृति है, इसे सभी जीव करते हैं। दूसरों की कमाई खाना विकृति है, जिसे राक्षसी प्रवृत्ति कहा जाता है। खुद कमाना और अपने आसपास के लोगों को खिलाना (कुटुम्ब, समाज और गाँव) और जो बच जाये उसको ईश्वर का प्रसाद समझकर खाना सनातन संस्कृति है।

सनातन संस्कृति का आधार अपने भोगने की प्रकृति को संस्कारित करने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में सामान्यत: गुरु अपने शिष्य को पाँच चीज बतलाता है—1. क्या करना चाहिए, 2. कब करना चाहिए, 3. कैसे करना चाहिए, 4. क्यों करना चाहिए और 5. किसके लिए करना चाहिए।

अलग-अलग सम्प्रदायों में उपरोक्त पाँच चीजों का क्रम बदल जाता है। जैसे—एक सम्प्रदाय 'क्या करना चाहिए' पर जोर देता है, दूसरा सम्प्रदाय 'क्यों करना चाहिए' पर जोर देता है, तीसरा सम्प्रदाय 'कब करना चाहिए' पर जोर देता है, तो चौथा सम्प्रदाय 'किसके लिए करना चाहिए' को पहला स्टेप मानता है। लेकिन सभी सम्प्रदायों में 'कैसे करना चाहिए' की प्रक्रिया सामान्यता: एक ही होती है। इस उदाहरण के द्वारा भारतीय संस्कृति में अनेकता में एकता को आसानी से समझा जा सकता है।

दैव योग से मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का शिक्षक अवश्य हूँ, परन्तु अपने स्वभाव, पृष्ठभूमि और जीवनानुभव के कारण विश्वविद्यालय की संस्कृति की तुलना में समकालीन भारत के आम नर-नारियों की तरह सनातन भारतीय संस्कृति का ज्यादा प्रतिनिधित्व करता हूँ। फिर भी, मेरी भाषा में वह सरलता एवं वह ओजस्विता अभी नहीं आ पायी है जो एक आम किसान, मजदूर या गृहिणी की भाषा में पायी जाती है। इसका सबसे बड़ा कारण मेरी समझ में यह है कि मेरे पेशे की संस्कृति और मेरे व्यक्तिगत जीवन की आस्थाओं और संस्कृति में एक प्रकार का अलगाव और अन्तर्विरोध है जिसे अपनी हर कोशिश के बावजूद मैं अब तक पूरी तरह से दूर नहीं कर पाया हूँ। अपनी इस स्थिति में भी स्वाभाविक बने रहने में मुझे भगवान बुद्ध की शिक्षाओं से हमेशा मार्ग-दर्शन और नैतिक बल प्राप्त होता रहा है।

आज दुनिया जिस मोड़ पर खड़ी है उसमें 'हिन्द स्वराज' की प्रासंगिकता बढ़ी ही है, घटी नहीं है। यह भारतीय सभ्यता को समझने का सूत्र भी देता है

और आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की भारतीय दृष्टि से गम्भीर समालोचना भी करता है। उम्मीद है यह पुस्तक 'हिन्द स्वराज' के मूल पाठ को पढ़ने एवं मूल्यांकन करने के लिए प्रेरणा भी देगी और नयी दृष्टि से विचार करने के लिए कुछ कच्चा माल भी उपलब्ध करायेगी।

—अमित कुमार शर्मा
सामाजिक व्यवस्था केन्द्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली-110067

भूमिका

'हिन्द स्वराज' महात्मा गांधी का दिया हुआ ऐसा दस्तावेज है जिसकी चर्चा तो बीच-बीच में कुछ समाजशास्त्री करते रहते हैं, किन्तु जिसकी कोई जगह न तो भारत के राजनीतिक कर्णधारों के बीच बन पायी और न ही भारत के बौद्धिक कर्णधारों के बीच। टॉल्सटॉय और थोरों के बीच महात्मा गांधी को झुलाते हुए हमारे चिन्तकों ने उस पृष्ठभूमि को बिल्कुल विस्मृत कर दिया जिससे इस पुस्तक का जन्म हुआ था।

वस्तुत: यह पुस्तक न तो कांग्रेस के 'गरम दल' और 'नरम दल' की रस्साकशी की उपज थी न ही यह किसी के विचारों से प्रभावित होकर किसी यूटोपिया का भारतीय संस्करण बनाने की चेष्टा थी। जब महात्मा गांधी इसे 'काल्पनिक संवाद' पर आधारित बताते हैं तो वे केवल इसके शिल्प की बात करते हैं, किन्तु जब वे इसे 'वास्तविक संवाद' पर आधारित बताते हैं तो वे इसके तथ्य की बात कर रहे होते हैं। रेल गाड़ी और पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति का विरोध करते हुए वे जो कुछ लिखते हैं उस 'काल्पनिक संवाद' का पक्ष यह है कि रेल से यात्रा करने से भीड़-भाड़ बढ़ती है और तीर्थ यात्रा का उद्देश्य नष्ट होता है तथा डॉक्टर बदहजमी को दूर करके अनावश्यक रूप से अधिक भोजन को प्रोत्साहित करते हैं। किन्तु 'वास्तविक संवाद' को हम तब तक नहीं समझ सकते जब तक हम उन्नीसवीं सदी में रचे गये उन ग्रामीण लोक गीतों की ओर ध्यान न दें जिनमें एक ऐसी स्त्री की करुण गाथा वर्तमान है जिसका पति कलकत्ते में मजदूरी करने रेल पर चढ़कर गया है और जब तक हम 'कोऽरूक्? कोऽरूक्? हितभुक्, मितभुक्' (कौन निरोग है? कौन निरोग है? जो स्वास्थ्यकर भोजन लेता है, जो थोड़ा भोजन लेता है) जैसी लोक प्रचलित उक्तियों की ओर ध्यान न दें।

डॉ. अमित शर्मा ने सम्भवत: पहली बार स्पष्ट रूप से विस्तार से, और प्रमाण-पुष्ट रूप से हमारा ध्यान 'हिन्द स्वराज' पर चर्चा के बहाने उन्नीसवीं सदी के भारतीय बौद्धिक वातावरण के कई अनछुए कोनों की ओर आकृष्ट किया है। उन्होंने यह देखा है कि 'हिन्द स्वराज' "भारतीय दृष्टि से यूरोपीय सभ्यता की सैद्ध ान्तिक आलोचना है" (खण्ड ख का अन्तिम वाक्य)। इस छोटे से वाक्य तक पहुँचने में उन्होंने इस ओर भी संकेत किया है कि जिस तरह विदेशों में ओरियंटलिस्ट और इंडोलाजिस्ट विद्याएँ विकसित हुई उस तरह भारत में वेस्टोलाजी (पाश्चात्य-विद्या) विद्या का विकास नहीं हुआ। 'हिन्द स्वराज' एक गम्भीर अर्थ में चाहे वेस्टोलाजी की पुस्तक न भी हो किन्तु उसने इस ओर इशारा जरूर किया कि इंडोलाजी का प्रतिकार आवश्यक है और वह वेस्टोलाजी ही हो सकता है।

डॉ. शर्मा कहते हैं कि "इंडिया वालों को 'हिन्द स्वराज' अवश्य पढ़ना चाहिए चूँकि हमारी जानकारी में आम भारतीय एवं उनकी सभ्यता-मूलक दृष्टि की जैसी सरल एवं सुबोध अभिव्यक्ति इस पुस्तिका में हुई है वैसी अन्यत्र नहीं हुई है। साथ ही आम भारतीयों को भी आज इस पुस्तक को पढ़ने से बहुत लाभ होगा चूँकि इसमें उनकी सांस्कृतिक दृष्टि से आधुनिक सभ्यता के मूल्यांकन का जो सूत्र है वह उन्हें एक ओर 30 करोड़ इंडियंस को समझने में मदद करेगा और दूसरी ओर इंग्लैंड के उत्थान एवं पतन को भी समझने की दृष्टि देगा। हमारे इंडियंस चाह कर भी हमसे अलग नहीं हो पायेंगे चूँकि अब भी समृद्ध भारतीय लोग उस तरह से आधुनिक समूह नहीं बन पायें हैं जिस तरह के आधुनिक 1909 के आस-पास अंग्रेज लोग थे। भारत एक सभ्यता है। इसके आम (74 करोड़) एवं खास (30 करोड़) समूहों में अब भी बहुत कुछ साझा है। उदाहरण के लिए आकांक्षा के स्तर पर दोनों समूह के भारतीय लोग अब भी अपने को ब्रह्माण्ड का केन्द्र नहीं समझते जबकि यूरोपीय आधुनिकतावाद के दौर में आम एवं खास अंग्रेज मनुष्य को ब्रह्माण्ड का केन्द्र एवं हर तरह के मूल्यांकन की कसौटी या मानदंड मानने लगे थे।" (पृ. 75-76)

डॉ. शर्मा ने पश्चिम में आधुनिकता को 'ह्यूमनिज्म' के उत्थान से जोड़ा है और शायद यह बेहतर होता कि वे रेनेसाँ (नवजागरण) का कुछ विश्लेषण करते और उसकी जड़ों की ओर भी कुछ निगाह डालते किन्तु इन सबके

लिए इस पुस्तक में अवकाश नहीं था। डॉ. शर्मा के इस उद्धरण पर हम ध्यान दें तो कई बातें सामने आती हैं। वस्तुत: यूरोपीय रेनेसाँ तत्कालीन ईसाइयत के शिल्प से अलग होने की कोशिश नहीं थी अपितु एक तरह से उस तथ्य को और पुष्ट करने की ही कोशिश थी। सभी संगठित धर्म जो ईश्वर, पुस्तक और ईश्वरीय संदेशवाहक पर आधारित हैं, आधुनिकता का सूत्र अपने भीतर पिरोये हुए हैं क्योंकि वे प्राणि वर्ग के एक उपसमूह मनुष्य और फिर मनुष्य वर्ग के एक उपसमूह, उस धर्म के अनुयायी, को ईश्वर से विशेषत: सम्बद्ध करते हैं। स्वत: ही, काल प्रवाह के उस बिन्दु के पहले, जिस बिंदु पर इस संगठित धर्म का आरम्भ होता है, सारा मानवीय कर्म हीन हो जाता है और इस प्रकार इतिहास का हिस्ट्री के अर्थ में जन्म होता है। इतिहास का हिस्ट्री के अर्थ में उभरना ही आधुनिकता है।

इस दृष्टि से डॉ. शर्मा का यह उद्धरण पाठकों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है—स्वामी विवेकानन्द एवं श्रीअरबिन्दो के अनुयायियों ने महात्मा गांधी और कुमारस्वामी की उपरोक्त व्याख्या करके सनातन धर्म और पारम्परिक सभ्यता की पुनर्व्याख्या करके इतिहास सुधारने का काम किया है, परन्तु सनातन परम्परा में इतिहास को सुधारने की कोई अवधारण नहीं है। (पृ. 150)

जिस 'सनातन परम्परा' का उल्लेख डॉ. शर्मा ने किया है वह वस्तुत: भारतीय पेगनिज्म (पैगनिज्म) है जिसे हम 'हिन्दू धर्म' के नाम से गैर-भारतीयों की मदद से जानते हैं। पेगन (पैगन) शब्द का भी इस सनातन परम्परा को चित करने के लिए डॉ. शर्मा ने यत्र तत्र उपयोग किया है। जब वे यह बताते हैं कि महात्मा गांधी और कुमारस्वामी ने अपना सनातन हिन्दूपन खोजा था विरासत के रूप में पाया नहीं था और यह खोज पूरे जीवन की साधना का फल थी, किसी गुरु के मार्गदर्शन में एक फार्मूले के तहत नहीं थी (पृ. 156) तो एक ऐसे प्रश्न की ओर भी हमारा ध्यान दिलाते हैं जिस पर विचार बहुत आवश्यक हो चला है—क्या कारण है कि सनातन हिन्दूपन की खोज के लिए महात्मा गांधी और कुमारस्वामी जैसे चिन्तक की आवश्यकता पड़ती है?

यहीं हम उस घातक वैचारिकता से टकराते हैं जिसे 'आधुनिकता' कहा जाता है। मनुष्य समाज ज्ञात इतिहास के पूर्व पेगन ही था या यो कहें कि 'सनातन हिन्दू' था। पेगन मन में विरासत के दबाव बुनियादी चिन्तन पर नहीं है, रोजमर्रा के खान-पान, रहन-सहन और विवाह या मृत्यु जैसे प्रसंगों पर है,

जिसे सामाजिक संगठन की बनावट के लिए बनाये नियम माना जा सकता है। यद्यपि इनमें से कुछ भी नहीं है जो दैव-मानव अन्त: सम्बन्ध से न संचालित होता है, इसलिए योगवशिष्ठ आराम से कहा जा सकता है कि ऐसे ब्रह्माण्ड हैं जिनमें वेद नहीं है, वर्णाश्रम नहीं है तथा ऐसे ब्रह्माण्ड हैं जिनमें राम-रावण युद्ध में राम की पराजय होती है। विरासत का कोई दबाव ऐसे चिन्तन पर नहीं होता। पश्चिम में हर स्तर पर पश्नोत्तर सभ्यता इस विरासत के दबाव से कुचली हुई है और आधुनिक विज्ञान की प्रत्येक ऐसी खोज जो अनेक ब्रह्माण्डों की कल्पना करती है या अकारण काकतालीय सृष्टि की बात करती है, उसके लिए चोट एक चुनौती रूप में सामने आती है। यह उस विरासत का दबाव ही था, जिसने ईसा के छह हजार वर्ष पूर्व में सारी मानव सभ्यता का इतिहास समेटने की चेष्टा की और वेद, बुद्ध पाणिनि सबको ईसा के छह सौ वर्ष पहले के आस-पास रखवाया। जब विरासत का दबाव नहीं होता तो आप अपनी खोज अपने आप करने पर विवश होते हैं।

इसलिए प्रत्येक सनातनी हिन्दू अपना धार्मिक संसार स्वयं बनाता है, इसीलिए प्रत्येक विचारक का एक निजी सम्प्रदाय बनता है, इसीलिए इतने भेदोपभेद इस समाज की वैचारिक संरचना में मौजूद है। क्योंकि पेगन सनातनी हिन्दू के सामने प्रश्न तो है, उत्तर नहीं है। पेगनोत्तर चिन्तन का जन्म केवल एक कारण से हुआ जिसे हम 'आलस्य' कह सकते हैं। सभी प्रश्नों का एक उत्तर केवल ईश्वर हो सकता है जिसके पास एक किताब हो और जिसका एक दूत हो। उस किताब के बाहर ज्ञान नहीं है और उस दूत के अतिरिक्त कोई मार्गदर्शक नहीं है। इसलिए 'ईश्वर' के बजाय 'मालिक' कहना ज्यादा ठीक है और 'रिलिजन' की व्युत्पत्ति 'बन्धन' से की जाती है।

इसके विपरीत, अभिनव गुप्त कहते हैं कि बन्धन और मोक्ष, सुख और दु:ख, वैसे ही पर्यायवाची हैं जैसे 'कुम्भ' और 'घट'। यह 'पर्याय वाचिता' का वाचन पेगन चिन्तन में बराबर मिलता है, उदाहरण के लिए प्राचीन यूनान में स्वर्ग और नरक की अवधारणा नहीं थी। जब प्रश्नों का उत्तर खुद खोजना हो, जब यह मानने पर बाध्य होना पड़े कि कुछ प्रश्न ऐसे हो सकते हैं, जिनका उत्तर हम न खोज पाये तो वैसी साधना का मार्ग अपनाना पड़ता है जैसी महात्मा गांधी या कुमारस्वामी ने की। 'एक्सपेरिमेंट्स विद् ट्रुथ' जैसी शब्दावली का प्रयोग विरासत के दबाव में होते हुए महात्मा गांधी कैसे कर सकते थे।

प्रत्येक पेगन, प्रत्येक सनातनी हिन्दू अपनी तलाश में एक छोटा या बड़ा महात्मा गांधी या कुमारस्वामी है।

मैं पाठकों को इसके लिए आमंत्रित करता हूँ कि वे डॉ. शर्मा की इस पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़ें। आज का समय बहुत कठिन है और जो लोग भारतीय संस्कृति के उत्साही समर्थक या विरोधी के रूप में सामने आते हैं वे इस संस्कृति के उत्साही समर्थक या विरोधी के रूप में सामने आते हैं वे इस संस्कृति को उन 'टेक्स्ट्स' के माध्यम से समझते हैं जिन्हें अंग्रेजों ने तैयार करवाया। इसलिए मुझे डॉ. शर्मा की पुस्तक में बहुत सी आशाएँ दिखती हैं। उन्होंने 'हिन्द स्वराज' को 'लोक परम्पराओं का शास्त्र' के रूप में पहचाना है। यह एक बड़ी पहल है और मेरी जानकारी में नयी भी। किन्तु इस पहल का महत्त्व इसके बड़ी या नयी होने के नाते नहीं है। इसका महत्त्व तो इस नाते है कि सनातन दृष्टिकोण से जाँच परख की गिनी-चुनी कोशिशों में से यह एक है। यह किताब साहस पूर्वक कहती है कि "भारतीय सभ्यता सनातन परम्परा का एक ऐतिहासिक रूप है। विविधता इसका स्थायी स्वरूप या भाव है"।

बौद्धिकता कायरता और पराजित मानसिकता के इस जमाने में चिन्तन के बल पर पाया गया साहस और बल डॉ. शर्मा के लेखन की विशेषता है। मैं चाहता हूँ कि वे और लिखें, मैं चाहता हूँ कि उनका लिखा पढ़ा जाय। मैं चाहता हूँ कि इस सोचने के नाते विचार और आचार में कुछ बदलाव आये।

—वागीश शुक्ल

भाग - एक

महात्मा गांधी का 'हिन्द स्वराज' : गुलाम भारत में सम्प्रभुता एवं स्वावलम्बन के सूत्र की खोज

'हिन्द स्वराज' का सभ्यता-मूलक सन्दर्भ

'हिन्द स्वराज' को गांधीजी ने 13 से 22 नवम्बर, 1909 के बीच लन्दन से दक्षिण अफ्रीका लौटते समय समुद्री यात्रा के दौरान लिखा था। इसका प्रथम प्रकाशन गांधीजी के पत्र 'इंडियन ओपिनियन' में 11 और 18 दिसम्बर, 1909 के अंक में हुआ। इसके बाद जनवरी 1910 में इसका गुजराती संस्करण एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ, जिस पर बम्बई सरकार ने 2 मार्च, 1910 को प्रतिबन्ध लगा दिया। गांधीजी ने स्वयं इसका अंग्रेजी अनुवाद 'इंडियन होम रूल' शीर्षक से मार्च 1910 में प्रकाशित किया। इस अंग्रेजी संस्करण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया और शीघ्र ही यह अनेक भाषाओं में अनूदित होकर प्रकाशित हुआ। इस समय प्रचलित आधिकारिक संस्करण 1939 में प्रकाशित अंग्रेजी संस्करण है। 1909 के मूल से उसमें जो अन्तर है उन्हें पाद-टिप्पणियों में देते हुए भारत सरकार के प्रकाशन विभाग ने 'महात्मा गांधी का सम्पूर्ण वाङ्मय' 10 खण्डों में 1963 में छापा है।

एक स्वतंत्र पुस्तिका के रूप में उपलब्ध 'हिन्द स्वराज' अथवा 'इंडियन होम रूल' अंग्रेजी में उपलब्ध लोकप्रिय पुस्तक है, जिसे नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद ने 1938 में छापा था। इसका संशोधित संस्करण 1939 में छपा था। तब से इसका लगातार मुद्रण हो रहा है। इसके लेखन का सन्दर्भ साउथ अफ्रीका में चल रहा सत्याग्रह था जो 1909 में तीन वर्ष के अबोध बच्चे जैसा था। इसके बावजूद इस सत्याग्रह ने महात्मा गांधी को इतनी मात्रा में आत्मबल प्रदान किया कि वे 'हिन्द स्वराज' को प्रकाशित कर सके।

नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद द्वारा हिन्दी में प्रकाशित 'हिन्द स्वराज' के लेखक का नाम गांधीजी एवं अनुवादक का नाम अमृतलाल ठाकोरदास नाणावटी दिया हुआ है। इसका प्रकाशन 1949 में हुआ था। 'दो शब्द' के नाम से

इसकी भूमिका काका कालेलकर ने लिखी है। इसी भूमिका में काका कालेलकर ने दो बातें और कही हैं—

(1) 'हिन्द स्वराज' की प्रस्तावना में गांधीजी ने स्वयं लिखा है कि व्यक्तिश: उनका सारा प्रयत्न 'हिन्द स्वराज' में बताये हुए आध्यात्मिक स्वराज की स्थापना करने के लिए ही है। लेकिन उन्होंने भारत में अनेक साथियों की मदद से स्वराज का जो आन्दोलन चलाया, कांग्रेस के जैसी राजनीतिक राष्ट्रीय संस्था का मार्गदर्शन किया, वह उनकी प्रवृत्ति पार्लियामेंटरी स्वराज के लिए ही थी।

(2) जिस तरह के आदर्श को गांधीजी ने अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में प्रस्तुत किया है, उसको तो स्वतंत्र भारत की सरकार ने अस्वीकार ही किया है। स्वाभाविक है कि इस तरह के नये भारत में अंग्रेजी भाषा का हीं बोलबाला रहे। विज्ञान-परायण राष्ट्रों की मदद से भारत यंत्र-संस्कृति में जोरों से आगे बढ़ रहा है। पूज्य गांधीजी के विचार जैसे हैं, वैसे हम लोग नहीं चल सकते। यह नयी निष्ठा केवल नेहरूजी की नहीं, किन्तु करीब-करीब सारे राष्ट्र की है। श्री विनोबा भावे गांधीजी के आत्मवाद का, सर्वोदय का और अहिंसक शोषण-विहीन समाज-रचना का जोरों से प्रचार कर रहे हैं। लेकिन उन्होंने भी देख लिया है कि पश्चिम के विज्ञान और यंत्र-कौशल के बिना सर्वोदय अधूरा ही रहेगा।

14 जुलाई, 1938 को अंग्रेजी मासिक पत्रिका 'आर्यन पार्थ' के सितम्बर, 1938 विशेषांक (हिन्द स्वराज अंक) के लिए भेजे संदेश में मोहनदास करमचन्द गांधी लिखते हैं कि 1909 में लिखी गई 'हिन्द स्वराज' की गुजराती मूल के बारे में उनके एक स्वर्गीय मित्र की राय थी कि 'यह एक मूर्ख आदमी की रचना है'। उन्होंने यह भी लिखा है—"अंग्रेजी आवृत्ति गुजराती का तरजुमा है। यह पुस्तक अगर आज मुझे फिर लिखनी हो तो कहीं-कहीं मैं उसकी भाषा बदलूँगा, लेकिन इसे लिखने के बाद जो 30 साल मैंने अनेक आंधियों में बिताये हैं, उनमें मुझे इस पुस्तक में बताये हुए विचारों में फेरबदल करने का कुछ भी कारण नहीं मिला।"

'यंग इंडिया' के जनवरी, 1921 अंक में उन्होंने लिखा कि "इस किताब में 'आधुनिक सभ्यता' की सख्त टीका की गई है, वह आज पहले से ज्यादा मजबूत बनी है। मुझे लगता है कि अगर हिन्दुस्तान 'आधुनिक सभ्यता' का त्याग करेगा तो उससे उसे लाभ ही होगा।" इसी लेख में उन्होंने यह भी लिखा है कि "मैं जानता

हूँ कि अभी हिन्दुस्तान उसके लिए तैयार नहीं है, लेकिन मुझे तो पक्का विश्वास है कि इसमें जिस स्वराज की तस्वीर मैंने खींची है, वैसा स्वराज पाने की मेरी निजी कोशिश जरूर चल रही है।" इस ओर संकेत करते हुए उन्होंने अन्त में यह भी लिख दिया कि "हिन्दुस्तान अगर प्रेम के सिद्धान्त को, अपने धर्म को एक सक्रिय अंश के रूप में स्वीकार करे और उसे अपनी राजनीति में शामिल करे तो स्वराज स्वर्ग से हिन्दुस्तान की धरती पर उतरेगा।"

गांधीजी को मालूम था कि उनकी छोटी पुस्तिका के बारे में 1909 से 1921 तक किस तरह की चर्चा होती रही थी। अत: उन्होंने 'यंग इंडिया' के उसी लेख में लिख दिया कि "मैंने इस मतलब के लेख भी देखे हैं कि मैं कोई गहरी चाल चल रहा हूँ, आज की उथल-पुथल से लाभ उठाकर अपने अजीब खयाल भारत के सिर लादने की कोशिश कर रहा हूँ और हिन्दुस्तान को नुकसान पहुँचाकर अपने धार्मिक प्रयोग कर रहा हूँ। इसका मेरे पास यही जवाब है कि सत्याग्रह ऐसी कोई कच्ची खोखली चीज नहीं है, उसमें कुछ भी दुराव-छिपाव नहीं है, उसमें कुछ भी गुप्तता नहीं है।"

22 नवम्बर, 1909 को लिखी प्रस्तावना में गांधीजी दो बातों पर जोर देते हैं—

(1) जब मुझसे रहा ही नहीं गया तभी मैंने यह ('हिन्द स्वराज' के 20 अध्याय) लिखा है। बहुत पढ़ा, बहुत सोचा, बहुत लोगों के साथ सोचा-विचारा और अंग्रेजों से भी मिला।

(2) जो विचार इसमें रखे गये हैं वे इस हद तक मेरे हैं क्योंकि मैं उनके मुताबिक बरतने का उम्मीद करता हूँ; वे मरी आत्मा में गढ़े-जड़े हुए जैसे हैं। वे मेरे नहीं हैं, क्योंकि सिर्फ मैंने ही उन्हें सोचा हो सो बात नहीं है। कुछ किताबें पढ़ने के बाद वे बने हैं। दिल में भीतर-ही-भीतर मैं जो महसूस करता था, उसका इन किताबों ने समर्थन किया। हिन्दुस्तान में जिन पर पश्चिमी सभ्यता की धुन सवार नहीं हुई है, ऐसे बहुतेरे हिन्दुस्तानियों के विचार तो ऐसे ही हैं, लेकिन यही विचार यूरोप के हजारों लोगों के हैं।

भारत में कांग्रेस संगठन की तत्कालीन (1909) स्थिति

'हिन्द स्वराज' के पहले अध्याय का शीर्षक 'कांग्रेस और उसके कर्ता-धर्ता' है। इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में नयी पीढ़ी के पाठकों को 'हिन्द स्वराज' का

पहला अध्याय थोड़ा अप्रासंगिक; असम्बद्ध एवं नीरस लग सकता है। 'हिन्द स्वराज' के मूल स्वर एवं संदेश से एक नजर में इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दिखता। परम्परा में रसे-पगे लोग, हालाँकि, बखूबी जानते हैं कि 'हिन्द स्वराज' के पहले अध्याय में करीब-करीब वही संरचनात्मक महत्त्व है जो 'श्रीमद्भगवद्गीता' में उसके पहले अध्याय का महत्त्व है। यह तथ्य गौरतलब है कि 'रघुपति राघव राजा राम' गाने वाले और 'राम राज्य' की बात करने वाले महात्मा गांधी की प्रेरणादायी पुस्तक न तो रामचरितमानस रही है और न योगवासिष्ठ। उनकी प्रेरणादायी पुस्तक श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद केन्द्रित 'भगवद्गीता' ही रही है। उन्होंने गीता पर प्रवचन किया है, जिसको महादेव देसाई एवं विनोबा भावे ने अपनी-अपनी दृष्टि से गीता पर शंकर, रामानुज, माध्व जैसे पारम्परिक आचार्यों की कोटि में रखने लायक भाष्य माना है।

'हिन्द स्वराज' के पहले अध्याय में 'पाठक' कांग्रेस के गरमपंथी समूह (तिलकवादी गुट) का कार्यकर्ता है। वह नरमपंथी समूह के दादाभाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, बदरूद्दन तैय्यबजी के विचारों से सहमत नहीं है और उन्हें अपना नहीं समझता है। वह 'सम्पादक' (गांधीजी) के विचार जानने के लिए उतावला है। गांधीजी कहते हैं, "आप अधीर हो गये हैं। मैं अधीरपन बरदाश्त नहीं कर सकता। आप जरा सब्र करेंगे तो आपको जो चाहिए वही मिलेगा। उतावली से आम नहीं पकते, दाल नहीं पकती। आपको हिन्द पर उपकार करने वालों की बात भी सुननी अच्छी नहीं लगती, यह बताता है कि अभी आपके लिए स्वराज दूर है।" वे आगे कहते हैं कि नौरोजी हमारे दादा समान हैं (भीष्म पितामह) और गोखलेजी पिता समान हैं। वे ए.ओ. ह्यूम तथा विलियम वेडरबर्न को गुरु समान (द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य) मानते हैं तथा साफ-साफ कहते हैं कि "स्वराज भोगने की इच्छा रखने वाली प्रजा अपने बुजुर्गों का तिरस्कार नहीं कर सकती। अगर दूसरों की इज्जत करने की आदत हम खो बैठें तो हम निकम्मे हो जायेंगे। जो प्रौढ़ और तजुर्बेकार हैं, वे ही स्वराज भोग सकते हैं, न कि बे-लगाम लोग।" फिर वे कहते हैं कि "दूसरों के खयाल गलत और हमारे ही सही हैं या हमारे खयालों के मुताबिक बरतनेवाले देश के दुश्मन हैं, ऐसा मान लेना बुरी भावना है।"

मिथकों की भाषा में रसे-बसे पाठकों को ऐसा लग सकता है मानो 'सम्पादक' नहीं अर्जुन स्वर्ग से धरती पर लौट आये हों और जनमेजय के नागयज्ञ की तैयारी से पहले की स्थिति में वे पाठकरूपी जनमेजय समर्थक को राज्य और

(स्वराज-कामी व्यक्तियों के) राष्ट्र का अन्तर समझा रहे हों ! गीता के आख्यान में भगवान श्रीकृष्ण ने शास्त्रीय तर्क का सहारा लेकर विरोधी सेना में अपने स्वजनों और गुरुजनों को देखकर राज्य कामना की तुच्छता का अहसास करके युद्ध नहीं करने की मन:स्थिति में पहुँच चुके अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित किया था। जबकि 'हिन्द स्वराज' के प्रथम अध्याय में सम्पादक महोदय विरोधियों और दूसरों को स्वजनों एवं गुरुजनों के रूप में स्वीकार कर उन्हें आदर एवं सम्मान देने की अपील करते हैं। सम्पादक महोदय अपनी दृष्टि में आम आदमी एवं लोकपक्ष का तर्क प्रस्तुत करते हैं।

बंगाल का बँटवारा और इसके परिणाम

'हिन्द स्वराज' का दूसरा और तीसरा अध्याय आपस में जुड़ा हुआ है। दूसरे अध्याय का शीर्षक 'बंग-भंग' एवं तीसरे अध्याय का शीर्षक 'अशान्ति और असन्तोष' है। दूसरे अध्याय में अंग्रेजी राज द्वारा बंगाल का बँटवारा यानी 'बंग-भंग' (1905) और तीसरे अध्याय में 'बंग-भंग' के बारे में अंग्रेज सरकार के निर्णय के उपरांत पूरे देश और खासकर बंगाल में पैदा हुए 'अशान्ति और असन्तोष' के बारे में गांधीजी ने अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

'हिन्द स्वराज' के दूसरे अध्याय में 'बंग-भंग' के बारे में गांधीजी कहते हैं कि "स्वराज के बारे में सही जागृति के दर्शन 'बंग-भंग' से हुई। हालाँकि इसका बीज बंगालियों के बीच काफी समय से अंकुरित हो रहा था। 'बंग-भंग' से जो धक्का अंग्रेजी हुकूमत को लगा, वैसा और किसी काम से नहीं लगा। 'बंग-भंग' के दिन से अंग्रेजी राज्य के भी टुकड़े हुए। बंगाल के टुकड़े करने का विरोध करने के लिए प्रजा तैयार थी। उस समय बंगाल के बहुतेरे नेता अपना सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार थे। अपनी सत्ता, अपनी ताकत को वे जानते थे, इसलिए तुरन्त आग भड़क उठी। अब वह बुझने वाली नहीं है, उसे बुझाने की जरूरत भी नहीं है। ये टुकड़े कायम नहीं रहेंगे, बंगाल फिर एक हो जायेगा। लेकिन अंग्रेजी जहाज में जो दरार पड़ी है, वह तो हमेशा ही रहेगी। वह दिन-ब-दिन चौड़ी होती जायेगी। जागा हुआ हिन्द फिर सो जाये यह नामुमकिन है। प्रजा एक दिन में नहीं बनती; उसे बनाने में कई बरस लग जाते हैं।"

सम्पादकजी मानते हैं कि 1905 में हुआ बंगाल का बँटवारा ('बंग-भंग') 'हिन्द स्वराज' का एक प्रकार से जन्मदिन है। हालाँकि बंगाल के बँटवारे को

अंग्रेजी सरकार ने कलकत्ता से दिल्ली को राजधानी बनाने के बाद 1911 में निरस्त कर दिया था, लेकिन 1905 से 1909 के बीच चला स्वदेशी आन्दोलन भारतीय जनमानस में रूपान्तरण का महत्त्वपूर्ण स्वराजी आधार बना। 1909 से 1911 के बीच स्वदेशी आन्दोलन की लौ अंग्रेजी सरकार के दमन एवं अत्याचार के कारण कुछ धीमी पड़ गई थी, परन्तु 1905 से 1909 के बीच यह आन्दोलन अपने चरम पर था। 'हिन्द स्वराज' की रचना 1909 में हुई। तब तक यह आन्दोलन परवान चढ़ चुका था।

1835 में लॉर्ड मैकॉले की शिक्षा नीति लागू होने से 1905 तक का 70 वर्ष का काल खण्ड भारत के सार्वजनिक जीवन में मध्यवर्गीय नरमपंथियों का स्वर्णयुग रहा है। भारत के सार्वजनिक जीवन की मुख्य धारा का प्रतिनिधित्व इसी वर्ग ने किया। 1885 में 'कांग्रेस' नामक संगठन की (ए.ओ. ह्यूम द्वारा) स्थापना के बाद से भारत के अंग्रेज समर्थक सुधारवादी नरमपंथियों को एक अखिल भारतीय स्तर का मंच मिल गया। जबकि 1857 की असफल क्रान्ति के बाद स्वराजकामी लोग भूमिगत होकर बीज रूप में अंकुरित हो रहे थे। बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाजपत राय एवं श्रीअरबिन्दो घोष जैसे गरमपंथी स्वराजवादियों का अंकुरण इसी बीज (स्रोत) से हुआ, परन्तु एक पेड़ का स्वरूप इसने 1905 में ही लिया। 48 वर्ष लगा इस बीज के अंकुरण में।

'हिन्द स्वराज' के दूसरे अध्याय में महात्मा गांधी साफ-साफ कहते हैं कि "अब तक (1905) बादशाह से अर्ज करना कांग्रेस के नेताओं और भारतीय मध्यवर्ग के बीच लोकप्रिय आग्रह था। 'बंग-भंग' के बाद लगा कि हमारी अर्ज के पीछे कुछ ताकत चाहिए। लोगों में कष्ट सहने की शक्ति चाहिए और इस अनुभूति ने नया जोश पैदा किया। इससे स्वदेशी आन्दोलन पैदा हुआ। पहले अंग्रेजों को देखकर छोटे-बड़े सब भागते थे, पर अब नहीं डरते; मार-पीट से भी नहीं डरते; जेल जाने या देश निकाला से भी नहीं डरते। लोगों में खलबली मच गई है। बंगाल की हवा उत्तर भारत में पंजाब तक और दक्षिण में कन्याकुमारी तक पहुँच गई है।" सवाल है कि यह सब कैसे हुआ? क्या स्वदेशी आन्दोलन मात्र 'बंग-भंग' जैसी तात्कालिक घटना से उपजी एक आकस्मिक घटना थी या 1857 की असफल क्रान्ति के बाद स्वराजकामी लोगों ने बीच के कालखण्ड में जो किया था उसकी भी इसमें कोई भूमिका थी। यूरोपीय ढंग के इतिहासकार चाहे जो भी कहते हों, परन्तु देसी स्रोतों से पता चलता है कि 1857 की क्रान्ति में

स्वामी दयानन्द सरस्वती (मेरठ), तोतापुरी महाराज (कलकत्ता) एवं एक तांत्रिक साधु (मराठी भाषी क्षेत्रों में) काफी सक्रिय थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती और मंगल पांडे के सम्बन्ध अब कई इतिहासकार स्वीकारने लगे हैं, परन्तु अन्य दोनों के बारे में ऐतिहासिक साक्ष्य का अभाव बतलाया जाता है। जो भी हो, यह मानने वाले अब बढ़ रहे हैं कि 1857 की क्रान्ति की योजना कुछ अलग थी। मंगल पांडे के उतावलेपन के कारण क्रान्ति योजना से पहले शुरू हो गई। इसका एक कारण देसी स्रोतों से यह पता चलता है कि मूल योजना में क्रान्ति की शुरुआत एक खास मुहूर्त में कलकत्ता से शुरू होनी थी, जबकि क्रान्ति शुरू हो गई मेरठ में और वह भी समय से पहले एक गलत मुहूर्त में। इसके लिए स्वामी दयानन्द को जिम्मेदार माना जाता है। उन्हें गणित ज्योतिष तो स्वीकार्य था, परन्तु वे फलित ज्योतिष, मुहूर्त एवं दिशा-काल विचार को अंधविश्वास मानते थे, जबकि तोतापुरी महाराज एवं बंगाल के क्रान्तिकारी फलित ज्योतिष को एवं मुहूर्त को यथोचित महत्त्व देते थे। तंत्र की परम्परा में भी मुहूर्त का अपना महत्त्व होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि 1857 के दिनों से ही भारत के नरमपंथियों में तो मतैक्य था, लेकिन स्वदेशी आन्दोलन के तथाकथित गरमपंथी अनुयायियों में वैचारिक एकता नहीं थी। फलस्वरूप बंग-भंग से जो स्वदेशी आन्दोलन शुरू हुआ उसमें कई तरह के स्वर थे। इसी बात को रेखांकित करते हुए गांधीजी कहते हैं कि "बंग-भंग से जैसे अंग्रेजी जहाज में दरार पड़ी है, वैसे ही हममें भी दरार फूट पड़ी है। हमारे नेताओं में दो दल हो गये हैं—एक, मॉडरेट (नरम दल) और दूसरा, एक्स्ट्रीमिस्ट (गरम दल)। दोनों एक-दूसरे पर भरोसा नहीं करते। सूरत में कांग्रेस के समय करीब-करीब मार पीट भी हो गई। यह देश के लिए अच्छी निशानी नहीं है। लेकिन मैं यह भी मानता हूँ कि ऐसे दल लम्बे अरसे तक टिकेंगे नहीं।"

'हिन्द स्वराज' के दूसरे अध्याय में गांधीजी ने जो आशा व्यक्त की थी, वह ऐतिहासिक रूप से सही साबित हुई। 1920 तक खुद गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस के दोनों दलों का आपस में विलय हो गया। तब तक तिलक महाराज की मृत्यु हो चुकी थी। लाजपत राय मूलत: पंजाब तक सीमित हो गये थे। विपिनचन्द्र पाल काफी हद तक निष्क्रिय हो चुके थे। श्रीअरबिन्दो 1910 में पांडिचेरी जाकर योग-साधना में लग चुके थे और 1926 के आस-पास उनका अपने आश्रम के अनुयायियों से भी सम्पर्क श्री माँ के माध्यम से ही होने लगा था, परन्तु गाधीजी के बारे में अपने प्रमुख अनुयायियों से श्रीअरबिन्दो यदा-कदा टिप्पणी करते रहते थे।

रवीन्द्रनाथ टैगोर से महात्मा गांधी का वैचारिक विरोध बढ़ने लगा था और हिन्दी भाषी क्षेत्रों में तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनके खिलाफ एक जबरदस्त मोर्चा ही खोल रखा था, परन्तु ये तीनों ही कांग्रेस पार्टी के बाहर थे और कांग्रेस के मार्गदर्शन में चलने वाले आन्दोलन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने की स्थिति में नहीं थे। इसके बावजूद तीनों का तत्कालीन भारतीय समाज, संस्कृति एवं साहित्य में अच्छा-खासा प्रभाव था जो काफी हद तक आज भी कायम है।

तीसरे अध्याय में 'बंग-भंग' के परिणामस्वरूप उपजे अशान्ति एवं असन्तोष के बारे में अपने विश्लेषण में गांधीजी कहते हैं कि जैसे नींद और जागने की प्रक्रिया में अंगडाई की स्थिति स्वाभाविक होती है, ठीक उसी प्रकार गुलामी की प्रक्रिया में सुप्त चेतना (नींद) और आत्म चेतना (जागना) के बीच अशान्ति और असन्तोष (अंगड़ाई) भी स्वाभाविक है। साथ में वह भी जोड़ते हैं कि कांग्रेस संगठन के संस्थापक मिस्टर ए.ओ. ह्यूम हमेशा कहते थे कि "हिन्दुस्तान में असन्तोष फैलाने की जरूरत है। यह असन्तोष बहुत उपयोगी चीज है। इसलिए हर एक सुधार के पहले असन्तोष होना चाहिए। इस तरह, यह स्पष्ट है कि महात्मा गांधी 'बंग-भंग' को न सिर्फ स्वाभाविक बल्कि ग्राह्य भी मानते हैं। सत्य और अहिंसा के समर्थक गांधी की यह स्वीकारोक्ति महत्त्वपूर्ण है, परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य है कि गांधीजी की यह स्वीकारोक्ति ह्यूम की स्थापना की स्मृति की ओट में आयी है। गांधीजी इस तरह की युक्ति का अन्य अध्यायों में भी उपयोग करते हैं (उदाहरण के लिए अध्याय 6 'सभ्यता का दर्शन' में वे कहते हैं कि हजरत मुहम्मद की शिक्षाओं के आधार पर आधुनिक पश्चिम की सभ्यता को 'शैतानी सभ्यता' कहा जा सकता है)। इस 'अशान्ति और असन्तोष' के स्वरूप की व्याख्या करते हुए गांधीजी आगे लिखते हैं कि ऐसा असन्तोष हममें महान हिन्दुस्तानियों की और अंग्रेजों की पुस्तकें पढ़कर पैदा हुआ है। उस असन्तोष से अशान्ति पैदा हुई और उस अशान्ति में कई लोग मरे, कई बर्बाद हुए, कई जेल गये, कई को देशनिकाला हुआ। आगे भी ऐसा होगा और होना चाहिए। ये सब लक्षण अच्छे माने जा सकते हैं। लेकिन इनका नतीजा बुरा भी आ सकता है।" गांधीजी की उपरोक्त बातों में दो-तीन बातें गौर करने लायक है—वे कहते हैं कि कांग्रेस के संस्थापक ए.ओ. ह्यूम मानते थे कि जब तक आदमी अपनी वर्तमान हालत में खुश रहता है, तब तक उसे उसमें से निकलने के लिए समझाना मुश्किल काम है। इसलिए हर एक सुधार के पहले असन्तोष होना ही चाहिए। ह्यूम ने ये बातें 1885 के आस-पास कही थी।

गांधीजी इसको 1905 के 'बंग-भंग' और 1906-08 के 'स्वदेशी आन्दोलन' के सन्दर्भ में 1909 में उद्धृत कर रहे हैं। दोनों स्थितियों में गुणात्मक अन्तर है। ह्यूम का उद्देश्य कांग्रेस के नरमपंथी नेताओं के सहयोग से ब्रिटिश सम्राट और भारत में अंग्रेजी राज के प्रति आस्थावान सुधारवादियों की फौज तैयार करना था जो भारतीय समाज, संस्कृति एवं धर्म के क्षेत्र में आधुनिक यूरोप के मूल्यों और मानदंडों पर आधारित सुधार आन्दोलन चलायें और इसके साथ-साथ सीमित संवैधानिक एवं कानूनी अधिकारों के लिए अंग्रेजी राज को आवेदन पत्र भी भेजते रहें। कुल मिलाकर राजा राममोहन राय, डिरोजियो, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राणाडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे सुधारवादी छोटे संगठनों की मदद से स्थानीय और प्रान्तीय स्तर पर जो सुधार कार्यक्रम चला रहे थे, उसी को ह्यूम ने सैद्धांतिक अवधारण एवं अखिल भारतीय मंच देने की कोशिश की। अत: ह्यूम भारतीय समाज में भारतीय संस्कृति, रीति-रिवाजों एवं धार्मिक मान्यताओं के प्रति असन्तोष बढ़ाना चाहते थे। वे लोग मानते थे कि भारत यदि गुलाम बना तो इसका कारण भारतीय संस्कृति की हीनता एवं अंग्रेजों की संस्कृति की श्रेष्ठता रही है। अत: अगर भारतीयों को विकसित होना है तो केवल ज्यादा संवैधानिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने से बात नहीं बनेगी, बल्कि भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक हालत के प्रति भारतीयों में असन्तोष बढ़ना भी आवश्यक है, ताकि वे यूरोपीय मापदंडों पर सुधर सकें या सुधारकों द्वारा सुधारे जा सकें। ऐसे सुधारकों के पक्ष में एवं भारतीय संस्कृति के प्रति असन्तोष से भरपूर किताबों का प्रकाशन न सिर्फ अंग्रेज लेखक कर रहे थे, बल्कि कुछ भारतीय लेखक भी कर रहे थे, परन्तु दादा भाई नौरोजी, रमेशचन्द्र दत्त जैसे भारतीय लेखकों ने अंग्रेजी राज द्वारा भारत के आर्थिक शोषण और ब्रिटिश मानदंडों से भी अन्यायपूर्ण शासन के प्रति एक नये प्रकार के असन्तोष को जन्म देना शुरू किया था।

अंग्रेजी में उपलब्ध टॉलस्टॉय, रस्किन, कारपेन्टर, टेलर, थोरो, मैजिनी, ब्लाउंट, प्लेटो, मैक्स नॉरडु और हेनरी मेन जैसे लेखकों के प्रभाव में आधुनिक सभ्यता और अंग्रेजी राज के गैर-पारम्परिक, अधार्मिक एवं अकल्याणकारी स्वरूप के बारे में भी असन्तोष फैल रहा था। इस अध्याय में गांधीजी ने ह्यूम की चर्चा करके मात्र असन्तोष फैल रहा था। इस अध्याय में गांधीजी ने ह्यूम की चर्चा करके मात्र असन्तोष की चर्चा की है, परन्तु 'हिन्द स्वराज' के परिशिष्ट दो में गांधीजी ने जिन 20 पुस्तकों की चर्चा की है, वे टॉलस्टॉय जैसे उपरोक्त लेखकों की पुस्तकें हैं।

अत: यह स्पष्ट है कि 1909 में गांधीजी 'बंग-भंग' से उपजे असन्तोष को ह्यूम के अर्थ में नहीं बल्कि टॉलस्टॉय आदि के अर्थ में ग्राह्य मानते हैं। दूसरी बात यह है कि वे इस असन्तोष और अशान्ति के परिणामस्वरूप कई लोगों के मरने, बर्बाद होने, जेल जाने और उनके देश निकाला होने की घटनाओं को अच्छा लक्षण मानते हैं और यह भी कहते हैं कि यह सब होना चाहिए, परन्तु यह जोड़ना भी नहीं भूलते कि इस सबका बुरा नतीजा भी आ सकता है। उपरोक्त दोनों अध्ययनों के आलोक में 'चौरी-चौरा काण्ड' के बाद महात्मा गांधी द्वारा 'असहयोग आन्दोलन' वापिस लेने की घटना थोड़ा आश्चर्यचकित करती है, परन्तु इस तरह की असंगति साउथ अफ्रीका में सत्याग्रह के दौरान भी दो-तीन बार देखी जा सकती है। इन घटनाओं से महात्मा गांधी एक व्यावहारिक सूझ-बूझ वाले सनातनी हिन्दू ज्यादा नजर आते हैं और टॉलस्टॉय जैसे पश्चिमी तत्त्व चिन्तकों के शिष्य कम नजर आते हैं।

स्वराज का अर्थ एवं प्रकृति

'हिन्द स्वराज' के चौथे अध्याय का शीर्षक है—'स्वराज क्या है?' इस अध्याय से 'हिन्द स्वराज' का असली एजेंडा, असली ब्लू-प्रिंट, असली मेनिफेस्टो, असली घोषणा-पत्र शुरू होता है। पहले तीन अध्याय सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं, भूमिका बनाते हैं। शेष सोलह अध्याय विषय की प्रस्तुति करते हैं। अन्तिम अध्याय (20वें) में पूरी पुस्तिका का सार-संक्षेप है।

चौथे अध्याय में गांधीजी स्वराज का अर्थ एवं प्रकृति समझाते हैं। उनका कहना है कि यह समझना बहुत आवश्यक है कि इस देश से अंग्रेजों को क्यों निकाला जाना चाहिए? गांधीजी कहते हैं कि कुछ लोग अंग्रेजों को तो इस देश से भगाना चाहते हैं, परन्तु वे अंग्रेजी राज और अंग्रेजी राज के विधान में कोई बुराई नहीं देखते। उनको अंग्रेजों के व्यवहार से परेशानी है, चूँकि अंग्रेज हर साल इस देश को कंगाल करके धन ले जाते हैं, अपनी ही चमड़ी के लोगों को बड़े ओहदे देते हैं, हमें सिर्फ गुलामी में रखते हैं, हमारे साथ बेअदबी का बर्ताव करते हैं और हमारी जरा भी परवाह नहीं करते, परन्तु गांधीजी को केवल उपरोक्त आधार पर अंग्रेजों का विरोध और अपना स्वराज प्राप्त करना तर्कसंगत एवं वैध नहीं लगता। वे व्यंग्यात्मक रूप से कहते हैं कि "हमें अंग्रेजी राज (राज्य) तो चाहिए,

पर अंग्रेज (शासक) नहीं चाहिए। आप बाघ का स्वभाव तो चाहते हैं, लेकिन बाघ नहीं चाहते। मतलब यह हुआ कि आप हिन्दुस्तान को इंग्लैंड जैसा बनाना चाहते हैं। और हिन्दुस्तान जब इंग्लैंड जैसा बन जायेगा, तब वह हिन्दुस्तान नहीं कहा जायेगा, बल्कि सच्चा इंग्लैंड कहा जायेगा।" वे जोर देकर कहते हैं कि यह उनकी कल्पना का स्वराज तो नहीं है।

आधुनिक सभ्यता की मीमांसा

आधुनिक प्रजातंत्र की संसदीय प्रणाली

अपनी कल्पना के स्वराज की चर्चा गांधीजी 'हिन्द स्वराज' के पाँचवें अध्याय में करते हैं। इस अध्याय का शीर्षक 'इंग्लैंड की हालत' है। गांधीजी कहते हैं कि इंग्लैंड में आज (1909) जो हालत है वह सचमुच दयनीय एवं तरस खाने लायक है। वह यह भी कहते हैं कि इंग्लैंड का पार्लियामेंट (संसद) तो बाँझ (अरचनात्मक) और वेश्या (अनैतिक) है।

इंग्लैंड के संसद ने अब तक अपने-आप एक भी अच्छा काम नहीं किया है। अगर उस पर कोई जोर-दबाव डालने वाला न हो तो वह कुछ भी न करे, ऐसी उसकी कुदरती हालत है और वह इस अर्थ में एक वेश्या के समान है कि जो मंत्रि-मंडल उस पर काबिज रहता है वह उसके पास रहती है। संसद सदस्य दिखावटी और स्वार्थी पाये जाते हैं। सब अपना मतलब साधने की सोचते हैं, कोई लोगों की भलाई के लिए नहीं सोचता। सिर्फ डर के कारण ही संसद कुछ काम करती है। जो काम आज करती है, वह कल उसे रद्द करना पड़ता है। जितना समय और पैसा संसद खर्च करती है अगर उतना समय और पैसा अच्छे लोगों को मिले तो प्रजा का उद्धार हो जाये। ब्रिटिश संसद महज प्रजा का खिलौना है और वह खिलौना प्रजा को भारी खर्च में डालता है। अगर सात सौ बरस के बाद भी ब्रिटिश संसद बच्चा है तो वह बड़ी कब होगी? प्रधानमंत्री को संसद की थोड़ी ही परवाह रहती है। वह तो अपनी सत्ता के मद में मस्त रहता है। अपना दल कैसे जीते इसी की लगन उसे लगी रहती है। संसद सही काम कैसे करे, इसका वह बहुत कम विचार करता है। उसके पास सिफारिश काम कर सकती है। वह दूसरों से काम निकालने के लिए उपाधि (पद) वगैरह की घूस बहुत देते हैं। उनमें शुद्ध भावना और सच्ची ईमानदारी नहीं होती। अंग्रेज मतदाता (वोटर) की धर्म पुस्तक

'बाइबल' अखबार बन गये हैं। वे अखबार पढ़कर अपने विचार बनाते हैं, परन्तु अखबार अप्रामाणिक होते हैं, चूँकि वे सामान्यत: एक ही बात को दो शक्लें देते हैं। ऐसे मतदाता के विचार घड़ी-घड़ी में बदलते रहते हैं। ऐसे लोगों की संसद भी ऐसी ही होती है, परन्तु गांधीजी की नजर में इसमें अंग्रेजों का कोई खास कसूर नहीं है, बल्कि यह उनकी आधुनिक सभ्यता का कसूर है। यह सभ्यता नुकसान-देह है और इससे यूरोप की प्रजा दरिद्र होती जा रही है।

उपरोक्त अध्याय में गांधीजी ने आधुनिक प्रजातंत्र की संसदीय प्रणाली की बहुत सही और कटु आलोचना प्रस्तुत किया है। इस आलोचना का महत्त्व समकालीन भारतीय सन्दर्भ में बहुत बढ़ गया है। हिन्दुस्तान के बिहार राज्य में, गंगा के उत्तरी भाग में बसे वैशाली में दुनिया का पहला गणराज्य पनपा था और गंगा के दक्षिण में समकालीन भारतीय इतिहास का पहला साम्राज्य-मगध भी विकसित हुआ था। जिस बिहार में ये दोनों पद्धतियाँ पैदा हुईं और विकसित हुई वह बिहार इसी आधुनिक संसदीय प्रणाली के विकास के कारण अपनी दशा, दिशा और तासीर भूल कर बदहाली के कगार पर खड़ा एक नये गांधी का इंतजार कर रहा है।

भारत का लोकतंत्र इंग्लैंड के साँचे में ढाला गया है। इसे बड़े-बड़े कानून जानने वाले लोगों ने बनाया है। लेकिन इतने वर्षों का अनुभव बताता है कि विदेश का बीज इस देश की धरती में उग नहीं पा रहा है। लोकतंत्र के नाम पर जिस तरह की राजनीति यहाँ विकसित हुई वह सबसे पहले स्वयं राजनीतिक दलों को खा गयी। अब प्रशासन और समाज को खाने पर उतारू है।

भगवान बुद्ध ने जिस लोकतंत्र को अपने संघ में लागू किया था, उसका सूत्र आज के लोकतंत्र से भिन्न था। उसका सूत्र था : 'मिलो, संवाद करो, और उस समय तक संवाद करते रहो जब तक सम्मति न बन जाये।' इस सूत्र में जोर संवाद और सहमति पर था, न कि विवाद और विरोध पर। हमने भगवान बुद्ध की दी हुई दिशा नहीं पकड़ी। क्यों नहीं पकड़ी, इसका अलग इतिहास है। आज की परिस्थिति में यह बात समझ लेने लायक है कि प्रतिनिधि चुनने का जो लोकतांत्रिक पद्धति हमने अपनायी है, वह हमारी परम्परा, हमारी राष्ट्रीय और जागतिक परिस्थिति तथा हमारी प्रतिभा के विरुद्ध है। इस देश का स्थानीय जीवन अब तक अपने भरोसे चला है, राजधानी के भरोसे नहीं। इस परम्परा का लाभ हमें लेना चाहिए। इसलिए पंचायतों को, चाहे वह जैसे भी हों स्थानीय

जीवन की सम्पूर्ण जिम्मेदारी देनी चाहिए। कुछ दिनों तक गड़बड़ी रह सकती है, परन्तु धीरे-धीरे इससे एक नयी ऊर्जा विकसित होगी।

गांधीजी तो चाहते थे कि हर गाँव एक समुदाय की तरह रहे। अपने खेतों में जरूरी कच्चा माल पैदा करे जिनसे जीवन की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी हों। उत्पादक का पेट काटकर बाजार का पेट भरने की कोशिश न की जाय। जो हमारी जरूरत से बच जाये वही बाजार में जाये। क्योंकि अनेक ऐसी चीजें हैं, जिनके लिए पैसे की जरूरत होती है। ऊर्जा का स्रोत हमारे मल-मूत्र में है, गाय, भैंस के पेशाब और गोबर में है। जैसा कि सर्वविदित है महात्मा गांधी आधुनिक प्रजातंत्र की संसदीय प्रणाली के स्थान पर ग्राम स्वराज और पारम्परिक पंचायती व्यवस्था तथा शक्ति के वास्तविक विकेन्द्रीकरण के हिमायती थे। वे बहुमत के आधार पर निर्णय करके बहुमत के लाभ की बात की जगह सर्वोदय और अंत्योदय के समर्थक थे। सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ सबका उदय या विकास होता है। अंत्योदय का शाब्दिक अर्थ समाज के अन्तिम आदमी का उदय या विकास है। बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय एक पुराना नारा रहा है। बहुसंख्यक लोगों के हित और सुख की बात सबसे पहले सम्भवत: भगवान बुद्ध ने की थी। गांधीजी उससे आगे जाकर सभी के हित और सुख की बात करते हैं, परन्तु इस अध्याय में गांधीजी सर्वोदय या अंत्योदय का अपना एजेंडा प्रस्तुत नहीं करके मात्र अंग्रेजी राज के विधान को अपने तर्क से नकारते हैं।

सभ्यता का दर्शन

अपने तर्क को वे अगले अध्याय में बढ़ाते हैं। 'हिन्द स्वराज' के छठे अध्याय का शीर्षक 'सभ्यता का दर्शन' है। इस अध्याय का सैद्धान्तिक आधार एक ओर सनातन भारतीय सभ्यता की उनकी अपनी समझ है जो मूलत: उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियों पर आधारित है, परन्तु दूसरी ओर यह प्लेटो, रस्किन, थोरो और टॉलस्टॉय जैसे पश्चिमी परम्परावादियों की रचनाओं से भी प्रभावित है।

एक अंग्रेज लेखक के अनुसार यह (आधुनिक) सभ्यता एक तरह का रोग है। इसी को आधार बनाकर गांधीजी कहते हैं कि आधुनिक सभ्यता में लोग बाहरी दुनिया की खोजों में और शरीर के सुख में धन्यता यानी सार्थकता और पुरुषार्थ मानते हैं। इस सभ्यता के विचारकों की राय में यह सभ्यता जैसे-जैसे आगे बढ़ेगी लोगों को हाथ-पैर हिलाने की जरूरत नहीं रहेगी। सारी सुख-सुविधाएँ एक बटन

दबाकर मशीन एवं अत्याधुनिक तकनीक की मदद से प्राप्त की जा सकेगी। हर काम मशीन से किया जायेगा। अब पहले की तरह हाथ-पैर या शरीर के अन्य अंगों की आवश्यकता न के बराबर होगी।

पहले लोग खुली हवा में, अपने को जितना ठीक लगे, उतना काम स्वतंत्रता से करते थे। अब हजारों आदमी अपने गुजारे के लिए इकट्ठा होकर बड़े कारखानों में काम करते हैं। पहले लोगों को मार-पीटकर गुलाम बनाया जाता था। आज लोगों को पैसे का और भोग का लालच देकर गुलाम बनाया जाता है।

इस सभ्यता में नीति और धर्म की बात ही नहीं है। इस सभ्यता के हिमायती साफ-साफ कहते हैं कि "उनका काम केवल लोगों को धर्म सिखाने का नहीं है। धर्म तो ढोंग है। नीति के नाम पर अनीति सिखलाई जाती है।" शरीर का सुख कैसे मिले, यही आज की सभ्यता ढूँढ़ती है और यही देने की वह कोशिश करती है, परन्तु वह सुख भी नहीं मिल पाता। गांधीजी के शब्दों में यह सभ्यता तो अधर्म है और यह यूरोप में इतने हद तक फैल गयी है कि वहाँ के लोग आधे पागल जैसे दिखते हैं। वे एकांत में बैठ ही नहीं सकते। वे नशा करके अपनी ताकत कायम रखते हैं। जिन स्त्रियों को घर की रानियाँ होनी चाहिए, उन्हें गलियों में भटकना पड़ता है या कोई मजदूरी करनी पड़ती है। औरत हो या मर्द हर प्रकार के मजदूरों की हालत इस सभ्यता में जानवरों से भी बदतर हो गई है। इसका लाभ मात्र पैसे वाले लोगों को मिलता है।

गांधीजी कहते हैं कि "इस सभ्यता की चपेट में आये हुए लोग खुद की जलायी हुई आग में जल मरेंगे। पैगम्बर मोहम्मद साहब की सीख के मुताबिक यह शैतानी सभ्यता है। हिन्दू धर्म इसे निरा कलियुग कहता है। यह सभ्यता दूसरों का नाश करने वाली और खुद नाशवान है। इससे दूर रहना चाहिए और इसीलिए ब्रिटिश और दूसरी संसदें बेकार हो गई हैं। ब्रिटिश संसद अंग्रेज प्रजा की गुलामी की निशानी है। हमें अंग्रेज प्रजा पर दया आनी चाहिए। वे साहसी और मेहनती हैं। मूल में उनके विचार अनीति भरे नहीं हैं। यह सभ्यता उनके लिए कोई अमिट रोग नहीं है। लेकिन अभी वे इस रोग में फँसे हुए हैं।"

आधुनिक सभ्यता की इतनी कटु, इतनी सरल भाषा में और इतनी कलात्मक आलोचना देखने में नहीं आती। इसकी तुलना आनन्द कुमारस्वामी के प्रसिद्ध निबन्ध 'सभ्यता क्या है?' से करने पर इसका महत्त्व ज्यादा समझ में आता है। कुमारस्वामी ने अपने विश्लेषण का आधार प्लेटो की अवधारणा एवं स्थापना

को बनाया है, जबकि महात्मा गांधी ने आधुनिक सभ्यता की अपनी आलोचना का मानदंड पैगंबर मुहम्मद की शिक्षाओं और हिन्दू धर्म में लोकप्रिय कलियुग की अवधारणा से लिया है। तीनों स्रोतों (प्लेटो के 'ग्रीक', मुहम्मद साहब के 'अरब' एवं हिन्दुओं के 'भारतीय') से आधुनिक सभ्यता की करीब एक जैसी आलोचना प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है। प्रकारांतर से उपरोक्त तीनों परम्पराओं की सभ्यता के बारे में सहधर्मिता साबित की गई है। तीनों परम्पराओं में सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धान्त का महत्त्व समान है ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु समय की जैसी एक रेखीय, यांत्रिक और कृत्रिम अवधारणा आधुनिक सभ्यता में पायी जाती है, वह उपरोक्त परम्पराओं में नहीं पायी जाती मूल्य-निरपेक्ष गति, लोभ, लालच, हर कीमत पर प्राप्त हो सकने वाले शारीरिक सुख की जैसी निर्लज वकालत आधुनिक सभ्यता में देखने को मिलती है, वह भी उपरोक्त परम्पराओं में नहीं मिलती। गांधीजी आधुनिक सभ्यता को एक प्रकार की अस्वाभाविक स्थिति, एक प्रकार का रोग, एक प्रकार की अधार्मिक अभिव्यक्ति मानते हैं। उनको लगता है कि यह हिन्दुओं के कलियुग और इस्लाम वालों के शैतानी सभ्यता की अवधारणा पर फिट बैठती है। फिर वे यह कहते हैं कि यह खुद नाशवान है और दूसरों का नाश करने वाली है। मुझे लगता है कि गांधीजी को अरबी इस्लाम में लोकप्रिय शैतानी साम्राज्य या शैतानी सभ्यता के बारे में बहुत गहरी जानकारी नहीं थी। शैतानी साम्राज्य या सभ्यता दूसरों का नाश करने वाली तो कही जा सकती है, परन्तु उसे खुद नाशवान नहीं कहा जा सकता। उसी तरह कलियुग को नाशवान एवं द्वापर, त्रेता या कृतयुग को अनाशवान नहीं कर सकते। चारों युग एक अर्थ में नाशवान और दूसरे अर्थ में सनातन है। उसी तरह कलियुग को दूसरों का नाश करने वाला भी नहीं कह सकते। कुछ लोगों ने कलियुग को तारने वाला भी कहा है। सनातनी अर्थों में मात्र इतना अन्तर है कि कृतयुग में धर्म चार पैरों पर खड़ा होता है, त्रेता में तीन पर, द्वापर में दो पैर पर, कलियुग में एक पैर पर। फलस्वरूप, कलियुग में व्यवस्था की दृष्टि से सबसे अधिक असन्तुलन होता है। स्वर्ण, लोभ, मोह, सत्ता आदि का कुछ अधिक महत्त्व होता है। अहंकार जल्दी बढ़ जाता है। कर्मफलों की प्राप्ति जल्दी होने लगती है, परन्तु कलियुग के बाद कालचक्र घूम कर कृतयुग पर फिर पहुँचता है। इस तरह संसार का सनातन चक्र चलते रहता है। महात्मा गांधी का भाव तो सनातनी है, लेकिन भाषा यहाँ विश्लेषण वाली कम और खण्डन वाली ज्यादा है। इस अध्याय में

उन्होंने अंग्रेजी राज की साम्राज्यवादी मानसिकता पर गहरी चोट की है। उस समय अधिकांश भारतीय विद्वान कहीं-न-कहीं आत्महीनता के भाव से ग्रस्त नजर आते थे। उनको अपनी संस्कृति और सभ्यता कमजोर और खोखली नजर आने लगी थी और आधुनिक यूरोप की सभ्यता अपराजेय, पवित्र और कल्याणप्रद नजर आने लगी थी। उस स्थिति में 'हिन्द स्वराज' जैसी पुस्तक का आना जरूरी था। इसमें भारतीय दृष्टि से यूरोपीय सभ्यता की शुरुआती सैद्धान्तिक आलोचना है।

हिन्दुस्तान की गुलामी एवं आजादी के सूत्र

हिन्दुस्तान क्यों हारा?

सातवें अध्याय का शीर्षक है 'हिन्दुस्तान कैसे हारा?' अथवा, हिन्दुस्तान अंग्रेजों के हाथ में कैसे गया? पाठक पूछता है कि अगर आज की सभ्यता नुकसानदेह है, एक रोग है, तो ऐसी सभ्यता में फँसे हुए अंग्रेज हिन्दुस्तान को अपने कब्जे (अधिकार) में कैसे ले सके? इसमें वे कैसे बने रह पाये? इस पर गांधीजी उत्तर देते हैं कि हिन्दुस्तान अंग्रेजों ने हमसे छीना नहीं है, बल्कि हमने उन्हें उपहार में दिया है। हिन्दुस्तान में वे अपने बल से नहीं टिके हैं, बल्कि हमने उन्हें टिका रखा है। हमारे देश में वे दरअसल व्यापार के लिए आये थे। वे बेचारे तो राज करने का इरादा भी नहीं रखते थे। कम्पनी के लोगों की मदद किसने की? उनका माल कौन बेचता था? कम्पनी बहादुर को बहादुर किसने बनाया? यह सब हम ही करते थे। जल्दी पैसा पाने के उद्देश्य से हम उनका स्वागत करते थे। हम उनकी मदद करते थे।

मुझे भांग पीने की आदत हो और भांग बेचने वाला मुझे भांग बेचे, तो कसूर बेचने वाले का है या हमारा खुद का? एक बेचने वाले को भांग देंगे तो क्या दूसरे मुझे भांग नहीं बेचेंगे? अंग्रेज व्यापारियों को हमने बढ़ावा दिया तभी वे हिन्दुस्तान में अपना पैर फैला सके। जब हमारे राजा लोग आपस में झगड़ने लगे तब उन्होंने कम्पनी बहादुर से मदद माँगी। कम्पनी बहादुर व्यापार और लड़ाई के काम में कुशल थी। उसमें उसे नीति-अनीति की अड़चन नहीं थी। व्यापार बढ़ाना और पैसा कमाना, यही उसका धन्धा था। उस वक्त हिन्दू और मुसलमान के बीच में बैर भी था। कम्पनी को उससे मौका मिला। इस तरह हमने कम्पनी के लिए ऐसा संयोग पैदा किया जिससे हिन्दुस्तान पर उनका अधिकार हो गया। अत: हमने अंग्रेजों को हिन्दुस्तान पर कब्जा करने दिया। जिस तरह हमने हिन्दुस्तान उन्हें शासन करने

के लिए उपहार स्वरूप दिया, वैसे ही हम लोग अब भी हिन्दुस्तान उनके शासन में रहने देते हैं। हिन्दुस्तान को रखने के लिए तलवार या फौज किसी काम में नहीं आ सकती, हम लोग खुद ही उन्हें यहाँ शासक के रूप में रहने देते हैं। वे जिस देश को अपने काबू में रखते हैं, उसे व्यापारिक फायदे के लिए रखते हैं। उनकी फौजें और जंगी बेड़े सिर्फ व्यापार की रक्षा के लिए हैं। नेपोलियन ने अंग्रेजों को व्यापारी प्रजा यूं ही नहीं कहा है। पैसा उनका खुदा बन गया है। अंग्रेजों को अगर यहाँ रहने में व्यापारिक फायदा बन्द हो जाये तो उनका यहाँ रहना सम्भव नहीं है, परन्तु समस्या यह है कि हमें उनका व्यापार पसन्द आता है। वे चालबाजी करके हमें रिझाते हैं और रिझाकर हमसे काम लेते हैं। हम आपस में झगड़कर उन्हें ज्यादा बढ़ावा देते हैं। उनके हथियार तो बिलकुल बेकार हैं। अंग्रेज अपने माल के लिए सारी दुनिया को अपना बाजार बनाना चाहते हैं, परन्तु यह सच है कि वे ऐसा नहीं कर सकेंगे।

इस अध्याय में वे पिछले अध्याय के अपने तर्क को आगे बढ़ाते हैं। उनका कहना है कि हम लोग अपनी पारम्परिक संस्कृति की आन्तरिक कमियों या समाज-व्यवस्था की रणनीतिक कमजोरियों के कारण या अंग्रेजी संस्कृति की आन्तरिक शक्ति या उनकी समाज-व्यवस्था की आन्तरिक गुणवत्ता के कारण नहीं हारे हैं, बल्कि हमारे प्रभु वर्ग और उभरते हुए मध्य वर्ग के लोभ और लालच के कारण बिना संघर्ष किये एक स्वैच्छिक समझौता के तहत हारे हैं। अंग्रेजी राज एक अधार्मिक, अनैतिक एवं चालबाज सभ्यता की उपज है जो लोभ, लालच और अनैतिक समझौतों का प्रचार करती है और एक साजिश के तहत हमारे शासक एवं व्यापारी वर्ग को रिझाकर अपना उल्लू सीधा करती है। गांधीजी का यह मानना है कि अंग्रेज लोग मूलत: स्वार्थी व्यापारी बन गये हैं और जिस दिन हम लोगों में स्वाभिमान जाग गया तथा हमलोगों ने उनके व्यापारिक लोभ में सहयोग करना बन्द कर दिया उस दिन वे लोग इस देश को छोड़कर जाने पर खुद ही मजबूर हो जायेंगे। गांधीजी नेपोलियन से सहमत हैं कि अंग्रेज लोग व्यापारी प्रजा हैं। अत: अगर उनको यहाँ नुकसान होने लगेगा तो वे अपनी फौज समेत बिना लड़े चले जायेंगे।

दक्षिण अफ्रीका के अनुभवों के बल पर गांधीजी लिखते हैं कि वे जिस देश को काबू में रखते हैं, उसे व्यापारिक फायदे के लिए रखते हैं, वर्ना उन्हें छोड़ देते हैं। व्यापार बढ़ाना और पैसा कमाना उनके जीवन का परम उद्देश्य है, इसमें उन्हें

नीति-अनीति की अड़चन नहीं आती। अत: अंग्रेजों को भगाने या उनसे लड़ने की जगह अगर हम लोग अपने लोभ-लालच पर नियंत्रण करने एवं अपनी लड़ाई खुद सुलझाने पर केन्द्रित करें तो अंग्रेज तो इस देश को छोड़कर भागेंगे ही बाद में भी कोई विदेशी शक्ति, कम्पनी, सेना या सत्ता इस देश में आने की कोशिश नहीं करेगी।

हिन्दुस्तान कैसे आजाद हो?

गांधीजी कहते हैं कि हर सभ्यता पर आफतें आती हैं, जो सभ्यता अचल है यानी जो सनातनी मूल्यों पर टिकी हुई है, वह आखिरकार आफतों को दूर कर देती है। हिन्दुस्तान की सभ्यता में कोई-न-कोई कमी आ गई थी, इसलिए यह सभ्यता आफतों से घिर गयी। लेकिन इस घेरे से छूटने की ताकत उसमें है, यह उसके गौरव को दिखाता है और फिर सारा हिन्दुस्तान गुलामी में घिरा हुआ नहीं है। जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा पाई है और जो उसके पाश में फँस गये हैं, वे ही गुलामी में घिरे हुए हैं। हमारी अपनी गुलामी मिट जाये तो हिन्दुस्तान की गुलामी मिट गई ऐसा मान लेना चाहिए। हम अपने ऊपर राज करें वही स्वराज है और वह स्वराज हमारी हथेली में है। इस तरह गांधीजी स्वराज का आधार संकल्प शक्ति एवं नैतिक बल को मानते हैं न कि आर्थिक, राजनीतिक एवं सैनिक कारकों को। वे पाठक से कहते हैं कि इस स्वराज को सपने जैसा न माने। मन से मानकर बैठे रहने का भी यह स्वराज नहीं है। यह तो ऐसा स्वराज है कि अगर आपने इसका स्वाद चख लिया हो तो दूसरों को इस स्वराज का स्वाद चखाने के लिए आप जिन्दगी भर प्रेरित करते रहेंगे।

गांधीजी के अनुसार सच्चे स्वराज के लिए अंग्रेजों को देश से निकालने का उद्देश्य सामने रखने की जरूरत नहीं है। अगर अंग्रेज इस देश में हिन्दुस्तानी बनकर रहें तो हम यहाँ उनका स्वागत कर सकते हैं, परन्तु अगर अंग्रेज लोग अपनी सभ्यता के साथ यहाँ शासक के रूप में रहना चाहें तो हिन्दुस्तान में उनके लिए अवश्य जगह नहीं है। ऐसे हालात पैदा करना हमारे हाथ में है कि अपने स्वार्थ की पूर्ति में बाधा देखकर अंग्रेज खुद इस देश को छोड़कर भाग जायें। हर देश की हालत एक सी नहीं होती। दूसरी सभ्यताओं से तुलना करने पर हिन्दुस्तान का बल असाधारण है। इसलिए दूसरे देश के इतिहास से हमें ज्यादा सीख या प्रेरणा नहीं मिल सकती। दूसरी सभ्यताएँ मिट्टी में मिल गयीं, जबकि हिन्दुस्तानी

सभ्यता के अस्तित्व को आँच नहीं आयी है। जहाँ तक हिन्दुस्तान की आजादी का प्रश्न है, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अंग्रेजों को यहाँ लाने वाले हम ही हैं और वे हमारी बदौलत ही यहाँ रहते हैं। हमने उनकी सभ्यता अपनायी है, इसलिए वे यहाँ रह रहे हैं। जिस दिन एक देश के रूप में हिन्दुस्तान का स्वाभिमान जाग गया और हमने उनकी शैतानी सभ्यता का आकर्षण त्याग दिया, उसी क्षण हमें गुलामी से आजादी मिल जायेगी। अंग्रेजों की सेना धरी की धरी रह जायेगी। उन्हें इस देश में रहने का कोई आधार ही नहीं बचेगा और वे तो व्यापारी लोग हैं। व्यावसायिक नुकसान सहने की तो उनमें साहस ही नहीं है। बिना लोभ-लालच की प्रेरणा के वे कहीं भी कुछ नहीं करते और लोभ-लालच की पूर्ति के लिए हर अच्छा-बुरा काम करते हैं। अत: हमें अंग्रेजों को नहीं उनके स्वार्थ को नुकसान पहुँचाना चाहिए। हमें अंग्रेजों से नहीं उनकी सभ्यता से नफरत करनी चाहिए।

इटली और हिन्दुस्तान

इटली की दशा और हिन्दुस्तान की दशा में फर्क है। आधुनिक इटली में महानता के दो बड़े प्रतीक हैं—मैजिनी एवं गैरीबाल्डी। मैजिनी महात्मा थे। गैरीबाल्डी बड़े योद्धा थे। मैजिनी ने मनुष्य-जाति के कर्तव्य के बारे में लिखते हुए यह बताया है कि हर एक को स्वराज भोगना सीख लेना चाहिए। गैरीबाल्डी ने हर इटालियन के हाथ में हथियार दिये और हर इटालियन ने हथियार लिए। उन दिनों इटली और ऑस्ट्रिया के बीच स्वराज के लिए संघर्ष था। इटली वाले ऑस्ट्रिया की प्रभुता नकार कर स्वराज पाना चाहते थे। हिन्दुस्तान भी अंग्रेजी राज से अपना छुटकारा चाहता है, परन्तु हिन्दुस्तानियों एवं अंग्रेजों की सभ्यताएँ एक-दूसरे से गुणात्मक रूप से अलग हैं, जबकि इटली और आस्ट्रिया के बीच सभ्यता का भेद नहीं था।

इमेन्युअल, कावूर और गैरीबाल्डी के विचार से इटली का अर्थ था—इमेन्युअल या इटली का राजा और उसके दरबारी। मैजिनी के विचार से इटली का अर्थ था—इटली के लोग और उसके किसान। इमेन्युअल वगैरह तो प्रजा के नौकर थे। गांधीजी कहते हैं कि मैजिनी की अवधारणा वाली इटली तो अब तक गुलाम है। दो राजाओं के बीच शतरंज की बाजी लगी थी, इटली की प्रजा तो सिर्फ प्यादा थी और है। आस्ट्रिया के जाने से इटली को क्या लाभ हुआ? नाम का ही लाभ हुआ। जिन सुधारों के लिए जंग हुआ वे सुधार नहीं हुए, प्रजा की हालत नहीं सुधरी।

गांधीजी अपने पाठक से पूछते हैं कि "हिन्दुस्तान की ऐसी दशा करने का तो आपका इरादा नहीं ही होगा। मैं मानता हूँ कि आपका विचार हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों को सुखी करने का होगा, यह नहीं कि आप या मैं राजसत्ता ले लें। अगर ऐसा है तो हमें एक ही विचार करना चाहिए। वह यह कि प्रजा स्वतंत्र कैसे हो।"

गांधीजी आगे कहते हैं कि "मेरा स्वदेशाभिमान मुझे यह नहीं सिखाता कि देशी राजाओं के मातहत जिस तरह प्रजा कुचली जाती है, उसी तरह उसे कुचलने दिया जाये। मुझमें बल होगा तो मैं देशी राजाओं के जुल्म के खिलाफ और अंग्रेजी जुल्म के खिलाफ अपनी सामर्थ्य भर संघर्ष करूँगा। लेकिन मेरा संघर्ष गैर-बाल्डी के संघर्ष की तरह का संघर्ष नहीं होगा, चूँकि जब हिन्दुस्तान को इटली की तरह हथियार मिलेगा तभी वह इटली की तरह संघर्ष कर सकता है। अंग्रेज गोला-बारूद से पूरी तरह लैस है, इससे डर नहीं लगता, परन्तु हिन्दुस्तानियों के पास अंग्रेजों से लड़ने के लिए हथियार आयेगा कहाँ से? और किस तरह? और अगर उनके हथियारों से उन्हीं के खिलाफ लड़ना हो तो इसमें कितने साल लगेंगे? और तमाम हिन्दुस्तानियों को हथियारबन्द करना तो हिन्दुस्तान को यूरोप बनाने जैसा होगा। अगर ऐसा हुआ तो आज यूरोप का जो हाल है, वैसे ही हाल हिन्दुस्तान का भी हो जायेगा। संक्षेप में हिन्दुस्तान को भी यूरोप की सभ्यता अपनानी होगी। अगर ऐसा ही होनेवाला है तो अच्छी बात यह होगी कि जो अंग्रेज उस सभ्यता की व्यवस्था करने में कुशल हैं, उन्हीं को हम यहाँ रहने दें। उनसे इटली की तरह थोड़ा-बहुत झगड़कर हम कुछ हक तो पायेंगे, कुछ नहीं भी पायेंगे और अपने दिन गुजारेंगे, परन्तु उससे अपने पारम्परिक मानदंडों पर सभ्यता तो खो ही देंगे और एक प्रकार का राक्षसी जीवनयापन करने लगेंगे।"

इस पर पाठक गांधीजी से कहता है कि आप तो बहुत आगे बढ़ गये। सबको हथियारबन्द होने की जरूरत नहीं। हम पहले तो कुछ अंग्रेजों का खून करके आतंक फैलायेंगे। फिर जो थोड़े लोग हथियारबन्द होंगे, वे खुल्लमखुल्ला लड़ेंगे। उसमें पहले तो बीस-पचीस लाख हिन्दुस्तानी जरूर मरेंगे। लेकिन आखिर हम देश को अंग्रेजों से जीत लेंगे। हम गुरिल्ला लड़ाई लड़कर अंग्रेजों को हरा देंगे। पाठक की बात पर दुखी होकर गांधीजी कहते हैं कि "अंग्रेजों का खून करके हिन्दुस्तान को छुड़ायेंगे, ऐसा विचार करते हुए आपको त्रास क्यों नहीं होता? खून तो हमें अपना करना चाहिए, क्योंकि हम नामर्द बन गये हैं, इसलिए हम खून का विचार करते हैं। ऐसा करके आप किसे आजाद करेंगे? खून करके जो लोग राज करेंगे,

वे प्रजा को सुखी नहीं बना सकेंगे। डर से मिली हुई चीज जब तक डर बना रहता है तभी तक टिक सकती है।" अत: गांधीजी हिन्दुस्तान में स्वराज की साधना इटली की विधि से नहीं करना चाहते। वे सत्याग्रह और अहिंसा के हथियार से हिन्दुस्तान की प्रजा का डर भेदन करना चाहते हैं ताकि हर हिन्दुस्तानी स्वराज की अनुभूति करके स्वावलम्बी हो सके और अंग्रेजी राज का व्यवसायिक आधार नष्ट हो सके।

स्वराज के साधन के रूप में गोला-बारूद

इसी बात को सोलहवें अध्याय में बढ़ाते हुए गांधीजी कहते हैं कि अगर मैं सजा के डर से चोरी न करूँ तो सजा का डर मिट जाने पर चोरी करने की फिर से इच्छा होगी और मैं चोरी करूँगा। यह तो बहुत ही साधारण अनुभव है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। हमने मान लिया है कि डाँट-डपटकर लोगों से काम लिया जा सकता है और इसलिए हम ऐसा करते आये हैं। पाठक के इस प्रश्न के जवाब में कि "अंग्रेजों ने खुद जो हासिल किया है, वह मार-काट करके ही हासिल किया है।"

गांधीजी कहते हैं कि "उन्होंने मार-काट से जो हासिल किया है वह बेकार है, अंग्रेजों ने मार-काट की और हम भी कर सकते हैं, यह बात तो ठीक है। लेकिन मार-काट जैसी चीज स्वराज का सनातनी आधार नहीं हो सकता।"

सनातनी दृष्टि से साधन बीज है और साध्य हासिल करने की चीज यानी पेड़ है। इसलिए जितना सम्बन्ध बीज और पेड़ के बीच है, उतना ही साधन और साध्य के बीच। शैतान को भजकर मैं ईश्वर-भजन का फल पाऊँ यह कभी हो ही नहीं सकता। इसलिए यह कहना कि 'हमें तो ईश्वर को ही भजना है, साधन भले शैतान हो'; बिल्कुल अज्ञान की बात है। 'जैसी करनी वैसी भरनी' की पुरानी कहावत को याद करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से गांधीजी गीता के कर्मवाद को यहाँ प्रस्तुत करते हैं और इटली के स्वतंत्रता अभियान से प्रभावित श्रीअरबिन्दो जैसे क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों की विचारधारा से स्वराज प्राप्ति की जगह वैकल्पिक विचारधारा प्रस्तुत करते हैं। यह विचारधारा शारीरिक बल की तुलना में नैतिक बल (आत्मबल) को ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानती है। इसमें तिकड़म की जगह सत्य को ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। गांधीजी कहते हैं कि अधिकार का आधार पात्रता एवं कर्तव्य ही हो सकता है। उनकी दृष्टि में स्वतंत्रता का आधार तपस्या या साधना ही हो सकता है, गोला-बारूद नहीं।

गांधीजी कहते हैं कि इसमें कोई शक नहीं कि जिस अरजी के पीछे कोई बल नहीं वह अरजी निकम्मी है। राणाडे कहते हैं कि अरजी लोगों को तालीम देने का साधन है। उससे लोगों को अपनी स्थिति का भान कराया जा सकता है और राजकर्ता को चेतावनी दी जा सकती है। गांधीजी फिर कहते हैं कि "अरजी के पीछे दो तरह के बल हो सकते हैं। हिंसा का बल एवं सत्याग्रह तथा अहिंसा का नैतिक बल। पहले बल का हथियार गोला-बारूद हो सकता है। इसमें अपने अधिकार की प्राप्ति के लिए प्रतिद्वंद्व की हत्या तक की जाती है या हत्या की धमकी दी जाती है। दूसरे प्रकार के बल को आत्मबल, दयाबल या नैतिकबल कहा जाता है। यह बल अविनाशी है और इस बल का उपयोग करने वाला अपनी तथा विरोधी दोनों की सांसारिक हालत बखूबी समझता है। अत: वह अपने बादशाह से कहेगा कि अगर आप हमारे अधिकार नहीं देंगे तो हम आपके अर्जदार नहीं रहेंगे। हम अर्जदार होंगे तो आप बादशाह बने रहेंगे। हम आपके साथ कोई व्यवहार नहीं रखेंगे।" यह बल जिसमें है उसका हथियार-बल कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

गांधीजी 'हिन्द स्वराज' के पाठक से कहते हैं कि बच्चा अगर आग में पैर रखे तो आप बच्चे के साथ क्या करेंगे? मान लो कि बच्चा ऐसी जिद करे कि आपको मारकर वह आग में कूदेगा, तब तो आग में पड़े बिना वह रहेगा ही नहीं। इसका उपाय आपके पास यह है : या तो आग में पड़ने से रोकने के लिए आप उसके प्राण ले लें या उसका आग में पड़ना आपसे देखा नहीं जाता इसलिए आप स्वयं आग में पड़कर अपनी जान दे दें। आप बच्चे के प्राण तो नहीं लेंगे तो फिर लाचारीवश आप बच्चे को आग में कूदने देंगे। इस तरह आप बच्चे पर हथियार-बल का उपयोग नहीं करते। बच्चे को आप और किसी तरह रोक सकें तो रोकेंगे, लेकिन हथियार-बल से तो नहीं रोकेंगे। बच्चे को रोकने में आप सिर्फ बच्चे का स्वार्थ देखते हैं। जिसके ऊपर आप अंकुश रखना चाहते हैं, उस पर उसके स्वार्थ के लिए ही अंकुश रखेंगे। यह मिसाल अंग्रेजों पर जरा भी लागू नहीं होती। आप अंग्रेजों पर जो हथियार-बल का उपयोग करना चाहते हैं, उसमें आप अपना ही यानी प्रजा का स्वार्थ देखते हैं। उसमें दया जरा भी नहीं है। इस प्रकरण में गांधीजी की रणनीतिक व्यावहारिकता एवं सांसारिक युक्ति उन्हें हिन्दुस्तान की सनातनी परम्परा से जोड़ती है या टॉल्स्टॉय की ईसाई परम्परा से इस पर शुरुआती भ्रम हो सकता है लेकिन जिन्हें भी ईसाई परम्परा के विकास की गहरी समझ है वे आसानी से समझ सकते हैं कि उपरोक्त उदाहरण में 'सर्मन ऑन द माउण्ट' वाला भाव

नगण्य है और किसी खास परिस्थिति में 'आत्मदीपो भव:' वाला भाव ही अधिक है। यहाँ अहिंसा का वैसा सार्वभौमिक सिद्धान्त नहीं है जैसा ईसाई परम्परा के कैनन (गिरिजाघर द्वारा स्वीकृत या प्रामाणिक मान्यता) में पाया जाता है, बल्कि यहाँ ईश्वरीय लीला में छुपे सत्य के प्रति आस्थावान व्यक्तिगत समर्पण का भाव अधिक है।

अंग्रेजी राज में हिन्दुस्तान की दशा

अगले पाँच अध्यायों (अध्याय 8 से 11 तक) में गांधीजी हिन्दुस्तान की दशा की व्याख्या करते हैं।

दिग्भ्रमित भारत (हिन्दुस्तान)

वे कहते हैं कि "अंग्रेजी राज के दौरान हिन्दुस्तान की दशा एक रंक (कंगाल) जैसी हो गई है। हिन्दुस्तान अंग्रेजों से नहीं, बल्कि आजकल की (आधुनिक) सभ्यता से कुचला जा रहा है, उसकी चपेट में वह फँस गया है। उसमें से बचने का अभी भी उपाय है, लेकिन दिन-ब-दिन समय बीतता जा रहा है। मुझे तो धर्म प्यारा है, परन्तु हिन्दुस्तान धर्म भ्रष्ट होता जा रहा है। धर्म का अर्थ मैं यहाँ हिन्दू, मुस्लिम या जरथोस्ती धर्म नहीं करता। लेकिन इन सब धर्मों के अन्दर जो 'धर्म' है वह हिन्दुस्तान से जा रहा है, हम ईश्वर से विमुख (अलग) होते जा रहे हैं।" धर्म से विमुखता गांधीजी की सबसे पहली चिन्ता है। उनकी यह चिन्ता उन्हें भारत के अधिकांश आधुनिक चिन्तकों से अलग करके स्वामी रामकृष्ण परमहंस जैसे सनातनी सिद्धों और धर्म से अनुप्राणित आम भारतीय नर-नारियों से जोड़ देती है।

आत्म विकास एवं सांस्कृतिक परिष्कार पर जोर

गांधीजी की दूसरी चिन्ता यह है कि आधुनिक लोग हिन्दुस्तान पर यह तोहमत लगाते हैं कि हम आलसी हैं और गोरे (यूरोपीय/अंग्रेज) लोग मेहनती और उत्साही हैं। बहुत दु:ख के साथ गांधीजी यह जोड़ते हैं कि दुर्भाग्य से हम हिन्दुस्तानी लोगों ने इस झूठी तोहमत को सच मान लिया है और आधुनिक मानदंडों पर खरा उतरने के लिए अनावश्यक रूप से गलत दिशा में प्रयत्नशील हो गये हैं। हिन्दू, मुस्लिम, जरथोस्ती, ईसाई सभी धर्म सिखलाते हैं कि हमें सांसारिक स्वार्थ की बातों के बारे

में यथासम्भव उदासीन भाव रखना चाहिए और धार्मिक परमार्थ के बारे में उत्साही रहना चाहिए। हमें अपने सांसारिक लोभ, लालच और स्वार्थ की हद बाँधनी चाहिए और आत्म विकास एवं सांस्कृतिक परिष्कार पर ज्यादा ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। गांधीजी जोर देकर कहते हैं कि जैसा पाखंड आधुनिक सभ्यता में पाया जाता है उसकी तुलना में सभी धर्मों में पाया जाने वाला व्यावहारिक पाखंड कम खतरनाक और कम दु:खदायी होता है। वे स्वीकार करते हैं कि धर्म के नाम पर हिन्दू मुसलमान लड़े, धर्म के नाम पर ईसाइयों में बड़े-बड़े युद्ध हुए। धर्म के नाम पर हजारों बेगुनाह लोग मारे गये। उन्हें जला दिया गया। उन पर बड़ी-बड़ी मुसीबतें आयीं। तब भी, वे बड़ी आस्था एवं आत्मविश्वास से कहते हैं कि यह सब तुलनात्मक रूप से आधुनिक सभ्यता के दु:ख से ज्यादा बर्दाश्त करने लायक है चूँकि धार्मिक पाखंडों को कोई सही नहीं समझता। सभी इसको पाखंड ही समझते हैं। ऐसे लोग जो पाखंडी नहीं हैं इसमें नहीं फँसते। इसका असर मूलत: पाखंडियों पर ही पड़ता है। फलस्वरूप इसका असर हमेशा के लिए बुरा नहीं रहता, परन्तु आधुनिक सभ्यता के पाखंड को लोग विकास और प्रगति समझते हैं। लोग इसके पाखंड में बलिदान के भाव से कूद पड़ते हैं। फिर वे न तो दीन के रहते हैं और न दुनिया के। उनका तो लोक और परलोक दोनों बिगड़ जाता है। वे सच बात को बिलकुल भूल जाते हैं। आधुनिक सभ्यता एक प्रकार का मीठा जहर है। उसका असर जब हम जानेंगे तब पुराने वहम और धार्मिक पाखंड इसके मुकाबले मीठे लगेंगे। आधुनिक सभ्यता के वहमों और पाखंडों से आधुनिक सभ्यता में आस्था रखने वाले लोगों को लड़ने का कोई कारण नजर नहीं आता। जबकि सभी धर्मों के भीतर धर्म और पाखंड के बीच धार्मिक संघर्ष सदैव चलता रहा है।

अंग्रेजी राज प्रेरित आधुनिक कुप्रचार

गांधीजी की तीसरी चिन्ता यह है कि कुछ लोगों को अभी भी भ्रम है कि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान में शान्ति एवं सुव्यवस्था कायम किया है और अंग्रेज नहीं होते तो ठग, पिंडारी, भील वगैरह आम आदमियों का जीना मुश्किल कर देते। गांधीजी इसे भी अंग्रेजी राज प्रेरित आधुनिक कुप्रचार मानते हैं। अगर सचमुच ठग, पिंडारी, भील वगैरह इतने खतरनाक होते तो अब तक हिन्दुस्तानी प्रजा का जड़मूल से कब का नाश हो जाता। चूँकि ये लोग तो हिन्दुस्तान में सदियों से रह रहे हैं, जबकि अंग्रेजी राज तो 1757 से पहले नहीं था। उपरोक्त प्रकरण में गांधीजी ने जिस ओर मात्र

संकेत किया है उस पर समकालीन इतिहासकारों ने विस्तार से प्रकाश डाला है। दरअसल अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियों और दमन के फलस्वरूप ही उपरोक्त लोगों की स्वाभाविक जीविका का साधन (खेत और जंगल) उनसे छीन लिया गया और उन्हें लाचारी में अपना अस्तित्व बचाने के लिए दु:साहसी कदम उठाना पड़ा। गांधीजी मात्र इतना ही कहते हैं कि अंग्रेजी राज की 'शान्ति' से हम नामर्द, नपुंसक और डरपोक बन गये हैं। वे कहते हैं कि हम कमजोर और डरपोक बनें; इससे तो भीलों के तीर कमान से मरना उन्हें ज्यादा पसन्द है। हिन्दुस्तानी नामर्द कभी नहीं थे। जिस देश में पहाड़ी लोग बसते हैं, जहाँ बाघ-भेड़िये रहते हैं, उस देश में रहने वाले अगर सचमुच डरपोक हों तो उनका नाश ही हो जाये। खेतों में हमारे किसान आज भी निर्भय होकर सोते हैं। बल तो निर्भयता में है; बदन पर मांस के लोंदे होने में बल नहीं है। भील, पिंडारी और ठग ये सब हमारे ही देशी भाई हैं। उन्हें प्यार से जीतना हम लोगों का काम है। जब तक हमारे ही भाई का डर हमको रहेगा, हम स्वराज नहीं प्राप्त कर सकेंगे।

आधुनिक सभ्यता की तकनीक

इसी क्रम में अगले (नवें) अध्याय में अंग्रेजी राज में हिन्दुस्तान की दशा की व्याख्या करते हुए गांधीजी रेलगाड़ियों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं। हिन्दुस्तान की तत्कालीन दशा के बारे में गांधीजी की चौथी चिन्ता यह है कि वास्तव में जिन चीजों ने हिन्दुस्तान को रंक बनाने में सबसे बड़ी भूमिका निभायी है उसे ही हम लोगों ने लाभकारी मानना शुरू कर दिया है। गांधीजी साफ-साफ कहते हैं कि हिन्दुस्तान को रेलों ने, वकीलों ने और ऐलोपैथिक डॉक्टरों ने कंगाल बना दिया है। अगर हम समय पर सावधान नहीं होंगे तो चारों ओर से घिर कर बर्बाद हो जायेंगे। उनकी दृष्टि में आधुनिक सभ्यता एक अदृश्य रोग है। इसका नुकसान मुश्किल से मालूम हो सकता है। उदाहरण के लिए, रेलवे की आधुनिक तकनीक को लीजिए। गांधीजी कहते हैं कि " अगर रेल न हो तो अंग्रेजों का काबू हिन्दुस्तान पर जितना है उतना तो नहीं ही रहेगा। रेल से महामारी फैली है। अगर रेलगाड़ी न हो तो कुछ ही लोग एक जगह से दूसरी जगह जायेंगे और इस कारण संक्रामक रोग सारे देश में नहीं पहुँच पायेगा। रेल से अकाल बढ़े हैं क्योंकि रेलगाड़ी की सुविधा के कारण लोग अपना अनाज बेच डालते हैं। जहाँ महँगाई हो, वहाँ अनाज खिंच जाता है। लोग लापरवाह बनते हैं और उससे अकाल का दु:ख बढ़ता है।

रेल से दुष्टता बढ़ती है। बुरे लोग अपनी बुराई तेजी से फैला सकते हैं। हिन्दुस्तान में जो पवित्र स्थान थे, वे अपवित्र बन गये हैं। पहले लोग बड़ी मुसीबत से वहाँ जाते थे। ऐसे लोग वहाँ सच्ची भावना से ईश्वर को भजने जाते थे, अब तो ठगों की टोली सिर्फ ठगने के लिए वहाँ जाती है। समाज में जो अच्छा होता है वह धीरे चलता है। जिसके मन में स्वार्थ नहीं रहेगा, वह जल्दी नहीं करेगा। वह जानता है कि आदमी पर अच्छी बात का असर डालने में बहुत समय लगता है। बुरी बात ही तेजी से बढ़ सकती है। अत: रेलगाड़ी हमेशा दुष्टता का ही फैलाव करेगी।"

इस अध्याय का मूल उद्देश्य आधुनिक सभ्यता के तकनीकी आधार की समालोचना है। इसमें गांधीजी कहना चाहते हैं कि किसी भी सच्ची, अच्छी और कल्याणकारी सभ्यता का आधार धर्म, नीति और मूल्य होते हैं तथा यंत्रों, तकनीकों एवं मशीनों का उपयोग मात्र साधन के रूप में होता है। जबकि आधुनिक सभ्यता का आधार मूल्य, नीति और धर्म के बदले रेलवे जैसा आधुनिक तकनीक वाला मशीन बन गया है। यहाँ रेल मात्र एक मशीन न होकर आधुनिक यातायात के सभी प्रमुख साधनों बस, ट्रक, हवाई जहाज आदि का सांस्कृतिक-तकनीकी प्रतीक बन गया है। यहाँ गांधीजी तकनीक की सांस्कृतिक उपयुक्तता का प्रश्न उठाते हैं। उनका मानना है कि मनुष्य के जीवन, आकांक्षा, सुख-दु:ख, सफलता-असफलता, हानि-लाभ, प्रगति-पतन जैसे मूल विषयों को जब मूल्यों के स्थान पर तकनीक परिभाषित करने लगते हैं तब सभ्यता पर असली संकट आता है। तब असली बर्बादी शुरू होती है। उदाहरण के लिए, रेलवे जैसे आधुनिक जन-संचार के साधनों ने तीर्थयात्रा और तीर्थ की अवधारणा एवं परिभाषा ही बदल दी है। तीर्थ को अब पर्यटन (टूरिज्म) में रूपांतरित कर दिया गया है। अंग्रेजी राज से पहले तीर्थयात्रा पर लोग मात्र कौतूहल वश एक नयी जगह सैर-सपाटे के लिए नहीं जाते थे बल्कि आत्म-परिष्कार, आत्म-शुद्धि और ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए जरूरी पात्रता बढ़ाने नैतिक-बल प्राप्त करने और पवित्रता के भाव से खुद को भरने के लिए जाते थे। इसमें तीर्थ-स्थान और तीर्थयात्रा का दुर्गम, दुरूह, कष्टसाध्य, समय-साध्य और श्रमसाध्य होना मददगार एवं उपयोगी होता था, परन्तु रेलवे जैसे आधुनिक साधनों ने तीर्थयात्रा को सुविधाजनक, आरामदायक और मनोरंजक बनाकर आसान बना दिया। इसमें अब बहुत कम समय लगता है, फलस्वरूप, इतनी भीड़-भाड़ होने लगी है कि इसका सारा उद्देश्य ही खत्म हो गया है। इससे पवित्र स्थान अपवित्र होने लगे हैं और समाज में पवित्रता के स्रोत सूखने लगे हैं।

उसी प्रकार से जब यातायात के साधन इतने सरल एवं सुविधा सम्पन्न नहीं होते थे तब गाँव और क्षेत्र के ज्यादातर साधन उसी गाँव या क्षेत्र की आवश्यकता पूर्ति के काम में लगाया जाता था। उस गाँव या क्षेत्र की आवश्यकता से अधिक संसाधन ही बाहर भेजा जाता था। तब स्वदेश और स्वावलम्बन का भाव सीमित तकनीक से बल पाता था। तब जीविका को उपासना की एक विधि माना जाता था। हर व्यक्ति अपने काम या व्यापार या श्रम के द्वारा प्रभु-प्राप्ति या आत्म-साक्षात्कार करने की कोशिश करता था। लेकिन अब आर्थिक प्रयासों का पवित्रता, ईश्वर या समाज सेवा से सम्बन्ध कम और व्यक्तिगत स्वार्थ, लोभ और लालच से ज्यादा हो गया है। अब सूखा, बाढ़ और अकाल की स्थिति में भी अनाज और अन्य संसाधनों का रेलवे एवं ट्रकों द्वारा शुद्ध मुनाफे के लिए दूसरे क्षेत्रों में ढुलाई होती रहती है। इससे उस क्षेत्र के जरूरतमंदों की समस्याएँ बढ़ जाती हैं।

गांधीजी के इस तर्क में दम तो है परन्तु पिछले अध्यायों के तर्क से थोड़ी असंगति भी दिखती है। एक तरफ गांधीजी यह मानते हैं कि हम अंग्रेजों की श्रेष्ठता के कारण नहीं अपने लोभ लालच और ईर्ष्या-द्वेष के कारण गुलाम बने। दूसरी ओर वे यह मानते हैं कि रेलवे जैसी तकनीक के कारण हमारे तीर्थ-स्थानों की पवित्रता नष्ट हुई है। रेलवे-ट्रकों के कारण अकाल के कष्ट एवं कालाबाजार बढ़ा है। दरअसल यहाँ भी मूल कारण हमारे लोभ-लालच, ईर्ष्या-द्वेष ही है। रेलवे के कारण लोभी-लालची, सुविधाभोगी व्यक्तियों और सुविधाभोगी स्वभाव को मौका मिल जाता है। अपने लोभ-लालच स्वार्थ और सुविधा के कारण ही हमलोग रेलवे जैसी तकनीक और ब्रिटिश रीति-रिवाज, रहन-सहन, कानून और परम्परा को अपनाने लगे हैं। गांधीजी को लगता है कि अंग्रेज यदि इस देश को छोड़कर चले भी जाते तब भी रेलवे आदि जैसे अंग्रेजों द्वारा विकसित तकनीक और उनके कोर्ट-कचहरी वकील, जज तथा ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति ज्यादातर लोग नहीं छोड़ पायेंगे। और तब अंग्रेजों की अनुपस्थिति में अंग्रेजी शासन के वाहकों का शासन इस देश पर बना रहेगा।

राष्ट्र की अवधारणा

गांधीजी की पाँचवी चिन्ता यह है कि लोग अंग्रेजों के इस कुप्रचार को सच मानते हैं कि हिन्दुस्तानी लोग अंग्रेजों और रेलवे के आने से पहले एक राष्ट्र नहीं थे और एक-राष्ट्र बनने में हम लोगों को सैकड़ो बरस लगेंगे। गांधीजी साफ-साफ कहते हैं

कि यह बिल्कुल बेबुनियाद बात है। जब अंग्रेज हिन्दुस्तान में नहीं थे, तब भी हम एक राष्ट्र थे, हमारे विचार एक थे। हमारा रहन-सहन एक था। तभी तो अंग्रेजों ने यहाँ एक राज्य कायम किया। हमारे बीच भेद तो बाद में उन्होंने ही पैदा किया। एक राष्ट्र का अर्थ यह नहीं कि हमारे बीच कोई मतभेद नहीं था, परन्तु हमारे बीच एकता के महत्त्वपूर्ण सूत्र प्राचीन काल से रहे हैं। हमारे यहाँ रेलवे नहीं थी लेकिन हमारे समाज के प्रमुख लोग पैदल या बैलगाड़ी में हिन्दुस्तान का सफर करते थे। वे लोग एक-दूसरे की भाषा सीखते थे। देश के चारो कोनों तक लोग तीर्थ करने जाते थे। हमारे यहाँ एकता के सूत्र अलग प्रकार के रहे हैं।

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध

हिन्द स्वराज के दसवें अध्याय में गांधीजी हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों की दशा और दिशा की समालोचना करते हैं। हिन्दुस्तान की तत्कालीन दशा के बारे में गांधीजी की छठी चिन्ता यह है कि विदेशी शिक्षा और कुप्रचार के प्रभाव में कुछ लोग मानने लगे हैं कि भारत में हिन्दू-मुसलमान कभी मिलकर नहीं रह सकते। गांधीजी कहते हैं कि मनुष्य इस तरह पैदा किया गया है कि अपने हाथ-पैर से जितना बने उतनी ही आने-जाने वगैरह की कोशिश उसे करनी चाहिए। भगवान ने मनुष्य की हद उसके शरीर की बनावट से ही बाँध दी, लेकिन आधुनिक मनुष्य ने उस बनावट की हद को लाँघने का उपाय (तकनीक) ढूँढ़ निकाला। मनुष्य को अकल इसीलिए दी गई थी कि उसकी मदद से वह भगवान (ईश्वरत्व) को पहचाने। पर मनुष्य ने अकल का उपयोग भगवान को भूलने में किया। वह अपनी कुदरती हद के मुताबिक अपने आस-पास रहने वालों की ही सेवा कर सकता है; पर उसने तुरंत अपने मगरूरी में ढूँढ़ निकाला कि उसे तो सारी दुनिया की सेवा अपने तन से करनी चाहिए। यह बोझ मनुष्य उठा ही नहीं सकता। इसके लिए अनेक धर्मों का और कई लोगों का साथ लेना स्वाभाविक है। हिन्दुस्तान में इसीलिए सभी धर्मों और मतों के लिए स्थान है। यहाँ राष्ट्र सभ्यता-मूलक अवधारणा है। राष्ट्र या सभ्यता का अर्थ यहाँ तात्त्विक रूप से सदैव विश्व व्यवस्था या वसुधैव कुटुम्बकम के रूप में रहा है। फलस्वरूप नये धर्मों या विदेशी धर्मों एवं धर्मावलम्बियों के प्रवेश से यह राष्ट्र कभी आतंकित और चिन्तित नहीं होता। यह भाव रूढ़ रहा है कि यह एक सनातन सभ्यता है, सनातन राष्ट्र है। यह अन्ततः मिटने वाला नहीं है। जो नये लोग इसमें दाखिल होते हैं, वे इस राष्ट्र की

प्रजा को तोड़ नहीं सकते, वे इसकी प्रजा में अन्ततः घुलमिल जाते हैं। हिन्दुस्तान ऐसा रहा है और आज भी ऐसा ही है। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई जो इस देश को अपना वतन मानकर बस चुके हैं—एक देशी, एक मुल्की हैं। वे देशी भाई हैं और उन्हें एक-दूसरे के स्वार्थ के लिए भी एक होकर रहना पड़ेगा। दुनिया के किसी भी हिस्से में एक राष्ट्र का अर्थ एक धर्म नहीं किया गया है, हिन्दुस्तान में तो कभी ऐसा था ही नहीं।

हिन्दू लोग मुसलमान बादशाहों के मातहत और मुसलमान लोग हिन्दू राजाओं के मातहत रहते आये हैं। उनमें प्रेम और झगड़ा एक सीमा में रहती रही है, परन्तु सामुदायिक बैर का स्थायी विचार अंग्रेजों के आने से पहले नहीं था। बहुतेरे हिन्दुओं और मुसलमानों के बाप-दादे एक ही थे। हमारे अन्दर एक ही खून है। क्या धर्म बदला इसलिए हम आपस में दुश्मन बन गये? धर्म तो एक ही जगह पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं। इस तरह गांधीजी ने रेखांकित किया कि पूजा पद्धति, रीति-रिवाज और उपासना की साम्प्रदायिक व्यवस्था के स्तर पर हिन्दू-मुसलमानों में अन्तर अवश्य है, परन्तु यह अन्तर उन्हें दो राष्ट्रों की प्रजा नहीं बना सकती। 1947 में देश के बँटवारे के अवसर पर भी गांधीजी ने नहीं माना कि दो राज्य (राष्ट्र-राज्य) बनने से भारत और पाकिस्तान नामक दो राष्ट्र बन गया। वे हमेशा मानते रहे कि भारत में राष्ट्र की अवधारणा सभ्यता-मूलक रही है, एक प्रकार की भू-सांस्कृतिक अवधारणा रही है और समय-समय पर इसमें न सिर्फ एक से अधिक राज्य होते रहे हैं, बल्कि उनके बीच राजनैतिक शत्रुता भी रही है। अतः वे हमेशा मानते रहे कि बँटवारे के बावजूद भारत और पाकिस्तान के हिन्दू-मुसलमान एक ही सभ्यता के अंग रहेंगे। 1971 में पाकिस्तान और बांग्लादेश अलग-अलग हो गये, जबकि दोनों जगह एक ही धर्म (इस्लाम) के मानने वाले लोग थे। उनकी भाषा अलग-अलग थी और अन्य सांसारिक हित भी अलग-अलग थे। उसी तरह, भारत और नेपाल दोनों हिन्दू बहुल देश हैं। राधाकुमुद मुखर्जी, हुमायूँ कबीर, आबिद हुसैन, टी.एन. मदन, जे.पी.एस. उबेरॉय, ए.के. सरन, टी.के. ओम्मन, एन.के. बोस, कुमारस्वामी, राधाकमल मुखर्जी, जी.एस. घुर्ये जैसे विद्वानों की रचनाओं में भी गांधीजी की उपरोक्त स्थापनाओं का एक हद तक सत्यापन हुआ है। धर्मपाल जैसे विद्वानों ने भी भारतीय सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता के बीच अन्तर के बारे में गांधीजी के मत को विस्तारित किया है।

अंग्रेजी राज में भारतीय वकील एवं जज

'हिन्द स्वराज' के ग्यारहवें अध्याय में वे तत्कालीन हिन्दुस्तानी समाज में वकीलों, जजों और आधुनिक न्यायालयों के द्वारा ब्रिटिश राज के संवर्धन की समालोचना करते हैं। तत्कालीन हिन्दुस्तानी समाज के बारे में गांधीजी की सातवीं चिन्ता भारतीय समाज में वकीलों के बढ़ते महत्त्व को लेकर है। उनकी राय में वकीलों ने हिन्दुस्तान को गुलाम बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। वकीलों ने हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े बढ़ाये हैं और अंग्रेजी हुकूमत को यहाँ मजबूत किया है। उनका धन्धा उन्हें अनीति सिखाने वाला है। वे आम हिन्दुस्तानियों को बुरे लालच में फँसाते हैं, जिसमें से उबरने वाले बिरले ही होते हैं। वकील लोग आमतौर पर झगड़ा आगे बढ़ाने की ही सलाह देते हैं। उनके लिए झगड़ा का मुकदमा कमाई का एक रास्ता है। आलसी लोग ऐशो-आराम करने के लिए वकील बनते हैं। वकीलों के कारण अंग्रेजों का प्रभाव आम हिन्दुस्तानियों पर मजबूत हुआ है। अंग्रेजी अदालतों के जरिये हम पर अंकुश जमाया गया। हिन्दुस्तानी जज और हिन्दुस्तानी वकील के बगैर उनका काम नहीं चल सकता था। अंग्रेजी सत्ता की एक मुख्य कुंजी उनकी अदालतें रही हैं और अदालतों की कुंजी वकील हैं। अगर वकील वकालत करना छोड़ दे और वकीलों का पेशा वेश्या के पेशे जैसा नीच माना जाय तो अंग्रेजी राज एक दिन में टूट जाय। वकील और जज दोनों मौसेरे भाई हैं और एक दूसरे को बल देने वाले हैं। अंग्रेजों के आने से पहले लोग खुद मार-पीट करके या रिश्तेदारों को पंच बनाकर अपना झगड़ा निबटा लेते थे। तब हिन्दुस्तानी लोग बहादुर थे। अदालतें आयीं और वे कायर बन गये। अब वे वकील के पास जाने लगे। मुवक्किल के खयाल में भी न हों ऐसी दलीलें मुवक्किल की ओर से ढूँढ़ना वकीलों का काम है।

इतने बड़े भू-भाग और इतनी जनसंख्या वाले महादेशनुमा हिन्दुस्तानी सभ्यता पर राज करना अकेले अंग्रेजों के बूते की बात नहीं थी। इस काम में इसी देश के कुछ वर्गों ने उनके सहयोगी की भूमिका अदा की। उनके सहयोगियों में जमींदार वर्ग, पढ़े-लिखे समाज सुधारक, वकील, डॉक्टर, सरकारी कर्मचारी एवं अधिकारी एवं अंग्रेजी राज की सेना में काम करने वाले लोग भी थे। इनमें भारतीय वकील एवं जजों का सहयोग अंग्रेजों के लिए बहुत उपयोगी साबित हुआ। वकील एवं जजों के सहयोग से इस देश के पारम्परिक रीति-रिवाजों, धार्मिक कानूनों एवं उत्तराधिकार तथा स्वामित्व के हिन्दुस्तानी कानूनों का अंग्रेजी राज के हित साधन

के लिए संग्रह, सम्पादन, परिवर्तन किया गया और इनकी वह कानूनी स्थिति बना दी गई कि लोग चाहकर भी इनको अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के नियमन एवं संचालन का आधार नहीं बना सके। पंचायत जैसी देशी संस्थाओं को कानूनी रूप से पंगु और अप्रभावी बना दिया गया। राष्ट्रीय स्तर से लेकर स्थानीय स्तर तक अंग्रेजी कानूनों को प्रभावी बना दिया गया। यदि भारतीय भाषा, भारतीय रीति-रिवाज एवं भारतीय लोगों के मनोविज्ञान समझने वाले भारतीय परिस्थिति और भारतीय भाषाओं से अनजान अंग्रेज वकील और जज कितना प्रभावी और कितना कारगर हो पाते? खुद एक प्रशिक्षित (वह भी इंग्लैंड में) और अनुभवी वकील होने के कारण गांधीजी जानते थे कि बिना भारतीय वकीलों की मदद के न वे अब तक प्रभावी होते और न आगे प्रभावी हो पायेंगे। अत: इस अध्याय में वे भारतीय वकीलों के सुप्त राष्ट्रवाद को जगाकर उन्हें अंग्रेजों से असहयोग करने के लिए प्रेरित करते हैं।

अंग्रेजी राज और ऐलोपैथिक डॉक्टर

'हिन्द स्वराज' के बारहवें अध्याय में वे हिन्दुस्तान की तत्कालीन दशा से सम्बन्धित अपना पाचवाँ लेख 'डॉक्टर' शीर्षक से पूरा करते हैं। इस दृष्टि से पाँच लेखों के अन्तर्गत गांधीजी की आठवीं चिन्ता वकीलों, डॉक्टरों जैसे नये पेशों के प्रचार-प्रसार के बहाने अनीति और अधर्म के नये-नये क्षेत्रों में प्रचार-प्रसार को लेकर है। गांधीजी कहते हैं कि हमारे समाज में वैद्य का धन्धा कभी अच्छा माना ही नहीं गया। अंग्रेजों ने डॉक्टरी विद्या से भी हम पर अपना अधिकार जमाया है। डॉक्टरों ने हमें जड़ से हिला दिया है। डॉक्टरों का काम शरीर में जो रोग पैदा होते हैं उन्हें दूर करने का है। रोग क्यों होते हैं? हमारी ही गफलत से। उदाहरण के लिए बहुत खाने से बदहजमी हो जाती है। अगर कोई डॉक्टरों की दवा न ले और बदहजमी की सजा भुगते तो वह फिर से बहुत नहीं खायेगा। डॉक्टर बीच में आया और उसने हद से ज्यादा खाने में मेरी मदद की। उससे मेरे शरीर को तो तात्कालिक आराम हुआ, लेकिन मेरा मन कमजोर बना। अगर डॉक्टर बीच में नहीं आता तो कुदरत अपना काम करती, मेरा मन मजबूत बनता और अन्त में निर्विषयी होकर मैं सुखी होता। अस्पतालें पाप की जड़ हैं। उनकी बदौलत लोग शरीर का जतन कम करते हैं और अनीति को बढ़ाते हैं। यूरोप के डॉक्टर तो हद करते हैं। वे सिर्फ शरीर के गलत जतन के लिए लाखों जीवों को हर साल मारते हैं, जिन्दा जीवों पर प्रयोग करते हैं।

ऐसा करना किसी भी धर्म को मंजूर नहीं। उनकी बहुत सी दवाओं में चरबी या दारू होती है। वे हमारा धर्म भ्रष्ट करते हैं। हम नि:सत्व और नामर्द बनते हैं। हम लोकसेवा करने लायक नहीं रहते और शरीर से क्षीण तथा बुद्धिहीन होते जा रहे हैं। डॉक्टर सिर्फ आडम्बर दिखाकर ही लोगों से बड़ी फीस वसूला करते हैं और अपनी एक पैसे की दवा के कई रुपये ठग लेते हैं। "भलाई का दिखावा करने वाले डॉक्टरों की तुलना में गांधीजी व्यंग्यात्मक रूप से नीम-हकीम जैसे ठग-वैद्यों को ज्यादा अच्छा मानते हैं।"

इस अध्याय को बहुत ध्यान से पढ़ने की आवश्यकता है वर्ना बहुत से लोग खासकर नयी पीढ़ी इस अध्याय के रणनीतिक निहितार्थ को समझ नहीं पायेगी और गांधीजी के तर्क उन्हें बहुत हल्के, यहाँ तक कि बेतुके नजर आयेंगे।

इस अध्याय के सन्दर्भ पर ध्यान देना जरूरी है। अंग्रेजी राज में हिन्दुस्तान की दशा नामक पाँच अध्यायों की शृंखला के अन्तगर्त यह पाँचवाँ लेख है। इसमें अंग्रेजी राज के विरुद्ध और हिन्दुस्तानी सभ्यता में स्वराज की प्राप्ति की दृष्टि से गांधीजी अपना आठवाँ तर्क और अन्तिम चिन्ता प्रस्तुत करते हैं। युद्ध में जिस तरह तरकश का अन्तिम तीन सबसे विषैला और सबसे विनाशकारी माना जाता है। उसी तरह अंग्रेजी राज और आधुनिक सभ्यता के खिलाफ यह अध्याय गांधीजी के तरकश का अन्तिम तीर है। गांधीजी को मालूम है कि अब तक के सारे तर्कों के बावजूद भारत में अंग्रेजी राज के समर्थक, हिन्दुस्तान का पश्चिम परस्त तबका, अंग्रेजी राज की बरकतों के गीत गाना नहीं छोड़ेंगे। अब भी यह तबका कहेगा कि चलो मान लिया ब्रिटिश संसद के मॉडल पर बना भारतीय संसद और विधान सभाएँ अकल्याणकारी हैं। वह यह भी मान लेगा कि रेलगाड़ी से जितना फायदा है उससे ज्यादा नहीं तो कम-से-कम उतना ही दूसरे प्रकार का नुकसान है। वह यह भी मान लेगा कि अंग्रेजी राज में हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बढ़े। वह यह भी मान लेगा कि अंग्रेजी राज ने इस देश को जो शान्ति और व्यवस्था देने का दावा प्रस्तुत किया है उसमें तथ्यात्मक खोट है। वह यह भी मान लेगा कि अंग्रेजों के आने से बहुत पहले से हम एक समृद्ध, सुसंस्कृत और कल्याणकारी राष्ट्र रहे हैं। वह यह भी मान लेगा कि अंग्रेजी ढंग के न्यायालयों की तुलना में हमारी अपनी न्याय व्यवस्था और पंचायतें ज्यादा कल्याण कारी थी एवं भारतीय वकीलों ने अंग्रेजी राज को सुदृढ़ करने और हिन्दुस्तान की गुलामी को पुख्ता करने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है, परन्तु अंग्रेजों के समर्थन में वह तब भी कहेगा कि अंग्रेजी राज की एक बरकत,

अंग्रेजों की एक देन तो निर्दोष रह ही जाती है। उनकी जादुई दवा (वंडर ड्रग) जैसे कुनैन, उनकी एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति, उनकी चिकित्सा पद्धति का जादुई सर्जरी और सूट-बूट, टाई पहने एवं गले में आला लगाये और आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित अंग्रेज डॉक्टर। ये लोग तो शोषण नहीं करते। इनसे तो कोई नुकसान नहीं। ये तो केवल सेवा करते हैं। कम से कम उनके डॉक्टरों और उनकी चिकित्सा पद्धति को तो हिन्दुस्तान के लिए वरदान मानना ही पड़ेगा। अंग्रेजों का इस देश में कम से कम यह तो योगदान है ही। कम-से-कम इस आधार पर तो अंग्रेजी राज का समर्थन करना ही पड़ेगा। कम से कम यह तो शैतानी सभ्यता के अनुरूप नहीं है। कम से कम यह तो देवदूत जैसा कार्य है। देवदूत जैसा पेशा है।

गांधीजी को मालूम है कि जिस तरह रावण का सिर काटने से रावण नहीं मरता, चूँकि रावण की नाभि में अमृत का घट है। ठीक उसी प्रकार, अंग्रेजी राज को भी इस देश में सबसे ज्यादा नैतिक समर्थन, सबसे ज्यादा वैधता उनके डॉक्टरों, अस्पतालों और उनकी चिकित्सा पद्धति से मिलती है, परन्तु यूरोप और साउथ अफ्रीका के अनुभवों, सम्पर्कों, संवादों एवं अध्ययनों के आधार पर गांधीजी को मालूम है कि ऐलोपैथिक चिकित्सा के तात्कालिक फायदे तो दिखते हैं, परन्तु इसके दूरगामी साइड इफेक्टस (अदृश्य प्रभाव) नहीं दिखते। उनको यह भी मालूम है कि यूरोप में 18वीं शताब्दी से ही ऐलोपैथिक चिकित्सा की अपूर्णता, क्रूरता एवं विनाशकारी प्रभाव पहचाना जाने लगा है और इसके बेहतर विकल्प के रूप में प्राकृतिक चिकित्सा, होम्योपैथी, सूर्यकिरण चिकित्सा, संगीत चिकित्सा, आहार चिकित्सा और एशिया महादेश में लोकप्रिय पारम्परिक चिकित्सा पद्धतियों—आयुर्वेद, यूनानी एवं चीनी चिकित्सा पद्धतियों का महत्त्व स्वीकारा जा रहा है। गांधीजी ने प्राकृतिक चिकित्सा एवं स्वस्थ जीवन के लिए मार्गदर्शिका, स्वस्थ जीवन की कुँजी जैसी पुस्तिकाओं की रचना इसी दृष्टि से की थी। इसी सन्दर्भ में 'हिन्द स्वराज' के बारहवें अध्याय में अंग्रेजी राज में डॉक्टरों की भूमिका का वे सरल भाषा में समालोचना प्रस्तुत करते हैं। यह अध्याय अपने समय से काफी पहले उत्तर-आधुनिक तर्कों के आधार पर हर व्यक्ति को अपना डॉक्टर खुद बनने, अपने शरीर के स्वभाव और जरूरतों को समझकर अपने रोगों का खुद इलाज करने और अपने सर्वांगीण स्वास्थ्य का खुद खयाल रखने का अपील करती है और प्रकारांतर से अंग्रेजी राज के भारत में बने रहने का अन्तिम और सबसे मजबूत नैतिक स्तंभ ढाहने की कोशिश करती है।

सनातन सभ्यता का नया शास्त्र

सच्ची सभ्यता कौन सी?

गांधीजी कहते हैं कि जो सभ्यता हिन्दुस्तान ने विकसित की है, उसकी बराबरी दुनिया में अब तक कोई और सभ्यता कर नहीं पायी है। जो बीज हमारे पुरखों ने बोये हैं, उनकी बराबरी कर सके, ऐसी कोई चीज देखने में अब तक नहीं आयी है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए गांधीजी कहते हैं कि रोम मिट्टी में मिल गया, ग्रीस सिर्फ नाम की सभ्यता रह गया है। मिस्र की बादशाही चली गई, जापान पश्चिम के शिकंजे में फँस गया और चीन का कुछ भी नहीं कहा जा सकता। लेकिन गिरी-टूटी जैसा भी हो, हिन्दुस्तानी सभ्यता आज भी अपनी बुनियाद में मजबूत है। अनुभव से जो हमें ठीक लगा उसे हम क्यों बदलेंगे? बहुत से अक्ल देनेवाले आते-जाते रहते हैं, पर हिन्दुस्तान अडिग रहता है। यह उसकी खूबी है, यह उसका लंगर है। सभ्यता वह फ्रेमवर्क या व्यवस्था पद्धति है जिससे आदमी अपना फर्ज अदा करता है। फर्ज अदा करने का मतलब है, नीति का पालन करना। नीति के पालन का मतलब है अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखना। ऐसा करते हुए हम अपने को (अपनी असलियत को) पहचानते हैं। यही सभ्यता है। इससे जो उल्टा है वह विनाश करनेवाला है।

गांधीजी कहते हैं कि "हमने देखा है कि मनुष्य की वृत्तियाँ चंचल हैं। उसका मन बेकार की दौड़-धूप किया करता है। उसकी आवश्यकताएँ असीम हैं। उसके शरीर को जैसे-जैसे ज्यादा सुविधा दी जाये वैसे-वैसे शरीर को सुविधाओं की लत लग जाती है और वह सुविधा माँगने लगती है। ज्यादा सुविधा पाकर भी मनुष्य का शरीर और मन सुखी नहीं होता। भोग भोगने से भोग की इच्छा बढ़ती जाती है। इसलिए हमारे पुरखों ने भोग की हद बाँध दी। बहुत सोचकर उन्होंने देखा कि सुख-दुःख तो मन के कारण हैं। अमीर अपनी अमीरी की वजह से सुखी नहीं है

परन्तु गरीब अपनी गरीबी के कारण दुखी नहीं है। अमीर लोग देखने में दुखी नजर आते हैं और गरीब आदमी सुखी दिखते हैं। करोड़ों लोग तो गरीब ही रहेंगे। ऐसा देखकर उन्होंने भोग की वासना छुड़वाई। हजारों साल पहले जो हल काम में लिया जाता था, उससे हमने काम चलाया। हजारों साल पहले जैसे झोंपड़ी थी, उन्हें हमने कायम रखा। हजारों साल पहले जैसी हमारी शिक्षा व्यवस्था थी, वही चलती रही। हमने नाशकारक होड़ को समाज में जगह नहीं दी, सब अपना-अपना धन्धा करते रहे। उसमें उन्होंने दस्तूर के मुताबिक दाम लिए। ऐसा नहीं था कि पारम्परिक यंत्रों से बेहतर यंत्र वगैरह की खोज करना हमें नहीं आता था। लेकिन हमारे पूर्वजों ने देखा कि लोग अगर अपने स्वाभाविक सामर्थ्य के बदले परिष्कृत यंत्र वगैरह के झंझट में पड़ेंगे, तो वे तकनीक एवं यंत्र के अन्ततः गुलाम ही बनेंगे और अपनी नीति एवं धर्म को छोड़ देंगे। उन्होंने सोच-समझकर कहा कि अधिकांशतः हमें ऐसे ही काम करने चाहिए जो हाथ-पैरों से हो सकें। हाथ-पैर का इस्तेमाल करने में ही सच्चा सुख है, उसी में तंदुरुस्ती है।"

"उसी तरह, उन्होंने सोचा कि बड़े महानगर खड़े करना बेकार का झंझट है। उनमें कुल मिलाकर लोग सुखी नहीं रहेंगे। उसमें स्थानीय समुदाय और नैतिक बन्धनों का क्षरण होगा तथा झुग्गी-झोपड़ियाँ पैदा होंगी, धूर्तों की टोलियाँ एवं वेश्याओं की गलियाँ पैदा होंगी; गरीब अमीरों से लूटे जायेंगे। इसलिए उन्होंने छोटे आकार के गाँव एवं नगरों से सन्तोष किया। उन्होंने देखा कि राजाओं और उनकी तलवार की वनिस्पत नीति का बल ज्यादा बलवान है। इसलिए उन्होंने राजाओं को नीतिवान पुरुषों, ऋषियों और फकीरों से कम दर्जे का माना।" गांधीजी कहते हैं कि हिन्दुस्तान जैसी सभ्यता दूसरों को सिखाने लायक है न कि दूसरों से सीखने लायक। इस राष्ट्र में पारम्परिक अदालतें थीं, आधुनिक वकीलों के पारम्परिक विकल्प थे, पारम्परिक डॉक्टर-वैद्य भी थे। लेकिन वे सब ठीक ढंग से नियम के मुताबिक चलते थे। सब जानते थे कि ये पेशेवर धन्धे अन्य धन्धों एवं पेशों से अपने-आप में बड़े नहीं हैं और पारम्परिक पेशेवर लोग आधुनिक पेशेवर काम करने वाले विशेषज्ञों की तरह समाज में लूट नहीं मचाते थे। वे विशेषज्ञ तो आम लोगों के स्वजन एवं आत्मीय सहयोगी थे।

भारत की पारम्परिक सभ्यता अब भी दूर-दराज के गांवों में एवं कस्बाई शहरों के पारम्परिक मुहल्लों में जीवंत बनी हुई है। उनमें कालक्रम से कुछ दोष भी आ गये हैं, परन्तु इन दोषों को लोग खुद भी दोष मानते हैं।

उन्हें कोई सभ्यता नहीं कहता। वे दोष सभ्यता के बावजूद कायम रहे हैं। उन्हें दूर करने के प्रयत्न हमेशा हुए हैं और होते ही रहेंगे। हममें जो नया जोश पैदा हुआ है, उसका उपयोग हम इन दोषों को दूर करने में कैसे कर सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में गांधीजी कहते हैं कि किसी भी देश में, किसी भी सभ्यता के मातहत सभी लोग सम्पूर्णता तक नहीं पहुँच पाये हैं। हिन्दुस्तानी सभ्यता का झुकाव नीति को मजबूत करने की ओर है और पश्चिम की आधुनिक सभ्यता का झुकाव अनीति को मजबूत करने की ओर है। पश्चिम की आधुनिक सभ्यता अनीश्वरवादी, हिन्दुस्तान की सभ्यता ईश्वर को मानने वाली है। इसीलिए आधुनिक पश्चिम की सभ्यता एवं इसका प्रतिनिधित्व करने वाली अंग्रेजी राज को विनाशकारी मानना पड़ता है।

सत्याग्रह : आत्मबल

गांधीजी कहते हैं कि "अगर दुनिया की कथा लड़ाई से शुरू होती तो आज एक भी आदमी जिन्दा नहीं रहता। दुनिया के इतिहास में जो प्रजा लड़ाई का ही भोग (शिकार) बन गई, उसकी ऐसी ही दुर्दशा हुई है। दुनिया में इतने लोग आज भी जिन्दा हैं, यह तथ्य बताता है कि दुनिया का आधार हथियार-बल पर नहीं है, बल्कि सत्य, दया या आत्मबल है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो सही है कि दुनिया लड़ाई के हंगामों के बावजूद टिकी हुई है। इसलिए संघर्ष बल के बजाय दुनिया का आधार दूसरा ही बल है।" गांधीजी सत्याग्रह की चर्चा करते हुए कहते हैं कि सत्याग्रह या आत्मबल पर आधारित आन्दोलन को अंग्रेजी में 'पैसिव रिजिस्टेंस' कहा जाता है। जिन लोगों ने अपने अधिकार पाने के लिए खुद दु:ख सहन किया था, उनके दु:ख सहने के ढंग के लिए यह शब्द व्यवहार किया गया है। उसका ध्येय लड़ाई के ध्येय से उलटा है। उदाहरण के लिए, गांधीजी कहते हैं कि "जब मुझे कोई काम पसन्द न आये और वह काम मैं न करूँ तो उसमें मैं सत्याग्रह या आत्मबल का उपयोग करता हूँ। सत्याग्रह में मैं अपना ही बलिदान देता हूँ। सत्याग्रह से लड़ते हुए अगर लड़ाई गलत ठहरी तो सिर्फ लड़ाई छेड़ने वाला ही दु:ख भोगता है। यानी अपनी भूल की सजा वह खुद भोगता है। जबकि युद्ध या खूनी संघर्ष में निर्दोष को भी सजा भोगना पड़ता है। फलस्वरूप सत्याग्रह युद्ध या खूनी संघर्ष की तुलना में नैतिक रूप से बेहतर विकल्प है। अपनी आस्था के अनुसार अपने अधिकारों के लिए खुद कष्ट भोगना और कष्ट सहन करना चाहिए।

यही सत्याग्रह की कुंजी है। उदाहरण के लिए हम कानून को मानने वाली प्रजा हैं, इसका सही अर्थ तो यह है कि हम सत्याग्रही प्रजा हैं। कानून जब पसन्द न आये तब हम कानून बनानेवालों का सिर नहीं तोड़ते, बल्कि उन्हें रद्द कराने के लिए खुद उपवास करते हैं—खुद दु:ख उठाते हैं।"

गांधीजी कहते हैं कि हमें अच्छे या बुरे कानून को मानना चाहिए, ऐसा अर्थ तो आज-कल का है। पहले ऐसा नहीं था। पहले भी अवांछित कानून को लोग तोड़ते थे और वे उसकी सजा भी भोगते थे। गांधीजी जोर देकर कहते हैं कि जो कानून हमें पसन्द न हो वह भी हमें मानना चाहिए, यह आधुनिक शिक्षा है और यह मर्दानगी के खिलाफ है। यह अवधारणा किसी भी पारम्परिक धर्म के खिलाफ है और गुलामी की हद है। जिस आदमी में सच्ची इंसानियत है, जो केवल खुदा से ही डरता है, वह किसी और से नहीं डरेगा। दूसरे के बनाये हुए कानून उसके लिए बन्धनकारक नहीं होते। बेचारी अंग्रेजी सरकार भी नहीं कहती कि 'तुम्हें ऐसा करना ही पड़ेगा।' यह केवल इतना कहती है कि 'तुम ऐसा नहीं करोगे तो तुम्हे सजा होगी।' अपनी अधम दशा के कारण मान लेते हैं कि हमें 'ऐसा ही करना चाहिए', यह हमारा फर्ज है, यह हमारा धर्म है। अगर लोग अब भी सीख लें कि जो कानून हमें अन्यायी मालूम हो उसे मानना अनैतिक, अधार्मिक नामर्दगी है तो हमें किसी प्रकार का भी जुल्म गुलामी के बन्धन में बाँध नहीं सकता है। यही स्वराज की कुंजी है। संख्या में ज्यादा लोग जो कहें उसे थोड़े लोगों को मान लेना चाहिए, बहुमत का निर्णय माना ही जाना चाहिए, यह भावना तो करीब-करीब सभी पारम्परिक समाजों के लिए नयी बात है। यह एक अधार्मिक एवं अनैतिक बात है, एक वहम है। अन्यायी कानून को मानना चाहिए, यह वहम जब तक दूर नहीं होता तब तक हमारी गुलामी जानेवाली नहीं है और इस वहम को सिर्फ सत्याग्रह ही दूर कर सकता है। गांधीजी के अनुसार सत्याग्रह सबसे बड़ा बल है। सत्याग्रह के लिए जैसी हिम्मत और बहादुरी चाहिए, वह तोप का बल रखनेवाले के पास हो ही नहीं सकती। सत्याग्रही व्यक्ति की योग्यता के बारे में गांधीजी कहते हैं कि "शरीर से दुबला व्यक्ति भी सत्याग्रही हो सकता है। शरीर से कमजोर लेकिन आत्मबल से मजबूत कोई भी आदमी सत्याग्रही हो सकता है। मर्द भी सत्याग्रही हो सकता है और औरत भी हो सकती है। सत्याग्रही को अपना लश्कर तैयार करने की जरूरत नहीं रहती। उसे पहलवानों की कुश्ती सीखने की जरूरत नहीं रहती। यदि उसने अपने मन को काबू किया तो वह फिर वनराज (सिंह) की तरह गर्जना

कर सकता है; और जो उसके दुश्मन बन बैठे हैं, उनके दिल इस गर्जना से फट जाते हैं। सत्याग्रह ऐसी तलवार है, जिसके दोनों ओर धार है। उसे चाहे जैसे काम में लिया जा सकता है। जो उसे चलाता है और जिस पर वह चलाई जाती है, वे दोनों सुखी होते हैं। वह खून नहीं निकालती, लेकिन उससे भी बड़ा परिणाम ला सकती है।"

गांधीजी 'हिन्द स्वराज' के पाठक से कहते हैं कि आप हिन्दुस्तान का अर्थ मुट्ठी-भर राजा से लगाते हैं। मेरे अनुसार तो हिन्दुस्तान का अर्थ वे करोड़ों किसान हैं, जिनके सहारे राजा और हम सब जी रहे हैं। राजा तो हथियार काम में लायेंगे ही। कलियुग में यह तो उनका रिवाज ही हो गया है। उन्हें हुक्म चलाना है, लेकिन हुक्म माननेवालों को तपोबल की जरूरत नहीं है। दुनिया के ज्यादातर लोग हुक्म माननेवाले हैं। उन्हें सत्याग्रह का बल सिखाना चाहिए। अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए गांधीजी एक उदाहरण देते हैं, "मुझे याद है कि एक रियासत में रैयत को अमुक हुक्म पसन्द नहीं आया, इसलिए रैयत ने हिजरत करना और गाँव खाली करना शुरू कर दिया। राजा घबड़ाये। उन्होंने रैयत से माफी माँगी और हुक्म वापस ले लिया। ऐसी मिसालें तो बहुत मिल सकती हैं, लेकिन वे ज्यादातर भारत-भूमि की ही उपज होंगी। ऐसी रैयत जहाँ है, वहीं स्वराज है। इसके बिना स्वराज कुराज्य है।"

गांधीजी कहते हैं कि शरीर को कसे बिना सत्याग्रही होना मुश्किल है। अक्सर जिन शरीरों को गलत लाड़-प्यार देकर या सहला-पुचकार कर कमजोर बना दिया गया है, उनमें रहनेवाला मन भी कमजोर होता है और जहाँ मन का बल नहीं है वहाँ आत्मबल कैसे हो सकता है? फलस्वरूप, गांधीजी का मानना है कि "जो व्यक्ति देश के भले के लिए सत्याग्रही होना चाहता है, उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, स्वेच्छा से गरीबी अपनानी चाहिए, सत्य का पालन तो करना ही चाहिए और हर हालत में अभय बनना चाहिए।" ब्रह्मचर्य की पारम्परिक अवधारणा आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत आती है और इसमें शरीर, मन, मस्तिष्क के सर्वांगीण विकास के लिए योग, ध्यान, शिक्षा एवं सदाचार पर जोर दिया जाता है। स्वैच्छिक गरीबी का अर्थ अनावश्यक विलासिता का त्याग और मितव्ययिता की आदत डालने से है।

बुनियादी शिक्षा

गांधीजी कहते हैं कि शिक्षा का साधारण अर्थ अक्षर-ज्ञान ही होता है। लोगों को लिखना, पढ़ना और हिसाब करना सिखाना बुनियादी या प्राथमिक (प्रायमरी) शिक्षा कहलाती है। एक किसान ईमानदारी से खुद खेती करके रोटी कमाता है। उसे मामूली तौर पर दुनियावी ज्ञान है। अपने माँ-बाप के साथ कैसे व्यवहार करना, अपनी स्त्री के साथ कैसे व्यवहार करना, बच्ची से कैसे पेश आना है, जिस देहात में वह बसा हुआ है वहाँ उसकी चाल-ढाल कैसी होनी चाहिए, इस सबका उसे काफी ज्ञान है। वह नीति के नियम समझता है और उनका पालन करता है, लेकिन वह अपने दस्तखत करना नहीं जानता। गांधीजी पूछते हैं कि इस आदमी को आप अक्षर-ज्ञान देकर क्या हासिल करना चाहते हैं? उसके सुख में आप कौन-सी बढ़ोत्तरी करेंगे? क्या आप उसकी झोंपड़ी या उसकी हालत के बारे में, उसके मन में, असन्तोष पैदा करना चाहते हैं? ऐसा करना हो तो भी ऐसे अक्षर-ज्ञान देने की जरूरत नहीं है। चूँकि ऐसे असन्तोष से तो मूलत: अंग्रेजी राज पुष्ट होगा और पारम्परिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होगी।

एक अंग्रेज विद्वान हक्सले के विचारों को उद्धृत करते हुए गांधीजी कहते हैं कि "उस आदमी ने सच्ची शिक्षा पाई है, जिसका शरीर चैन से और आसानी से सौंपा हुआ काम करता है। उस आदमी ने सच्ची शिक्षा पाई है, जिसकी बुद्धि शुद्ध, शान्त और न्यायदर्शी है। उसने सच्ची शिक्षा पाई है, जिसका मन कुदरती कानूनों से भरा है और जिसकी इंद्रियाँ उसके बस में हैं, जिसकी मन की भावनाएँ बिल्कुल शुद्ध हैं, जिसे नीच कामों से नफरत है और जो दूसरों को अपने जैसा मानता है। ऐसा आदमी ही सच्चा, शिक्षित या तालीमशुदा माना जायेगा, क्योंकि वह कुदरत के कानून के मुताबिक चलता है। कुदरत उसका अच्छा उपयोग करेगी और वह कुदरत का अच्छा उपयोग करेगा।" गांधीजी कहते हैं कि इस तरह की शिक्षा तो पारम्परिक रूप से हिन्दुस्तान के लोगों को सदियों से प्राप्त होती रही है। केवल अंग्रेजी राज में ही इसके विपरीत मूल्यों वाली अनैतिक शिक्षा दी जा रही है।

करोड़ों लोगों को ऐसी अनैतिक, अव्यावहारिक अंग्रेजी शिक्षा देना उन्हें गुलामी में डालने जैसा है। मैकॉले ने शिक्षा की जो बुनियाद डाली वह सचमुच गुलामी की बुनियाद थी। अंग्रेजों ने इसी इरादे से अपनी योजना बनाई थी ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन उसके काम का नतीजा यही निकला है।

यह कितने दु:ख की बात है कि हम स्वराज की बात भी पराई भाषा में करते हैं। गांधीजी कहते हैं कि आपको समझना चाहिए कि अंग्रेजी शिक्षा लेकर हमने अपने राष्ट्र को गुलाम बनाया है। अंग्रेजी शिक्षा से दंभ, राग, जुल्म, वगैरह बढ़े हैं। अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोगों ने अपने मूल्य बदल जाने के कारण प्रजा को ठगने में और उसे परेशान करने में अपराध बोध महसूस करना छोड़ दिया है, परन्तु गांधीजी स्वीकार करते हैं कि हम लोग आधुनिक सभ्यता के रोग में ऐसे फँस चुके हैं कि अंग्रेजी शिक्षा को पूरी तरह अस्वीकार कर अपना काम चला सकें, ऐसी स्थिति फिलहाल नहीं रही। अब अगर अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोग इस देश के लिए कुछ करना चाहते हैं तो वे अपनी अंग्रेजी शिक्षा का भी देश हित में सदुपयोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी शिक्षा का भी देश हित में सदुपयोग कर सकते हैं। अंग्रेज लोग खुद अपनी सभ्यता से कैसे परेशान हो गये हैं, यह समझने और समझाने के लिए अंग्रेजी का उपयोग किया जा सकता है। जो लोग अंग्रेजी पढ़े हुए हैं, उनकी सन्तानों को पहले तो हिन्दुस्तानी रीति-नीति सिखानी चाहिए, उनको मातृभाषा सिखानी चाहिए और हिन्दुस्तान की दूसरी भाषा सिखानी चाहिए। बालक जब पुख्ता (पक्की) उम्र के हो जायें, तब भले ही वे अंग्रेजी शिक्षा पायें और वह भी इस देश पर विदेशी प्रभाव मिटाने के इरादे से, न कि उसके जरिये पैसा कमाने के इरादे से गांधीजी मानते हैं कि जो अंग्रेजी पुस्तकें काम की हैं, उनका हमें अपनी भाषा में अनुवाद करना होगा। अनावश्यक शास्त्र सीखने का दंभ और वहम हमें छोड़ना होगा। गांधीजी की नजर में सबसे पहले तो धर्म की शिक्षा या नीति की शिक्षा दी जानी चाहिए। हर एक पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा का, हिन्दू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को फारसी का और सबको हिन्दी का ज्ञान होना चाहिए। कुछ हिन्दुओं को अरबी, कुछ मुसलमानों और पारसियों को संस्कृत सीखनी चाहिए। उत्तरी और पश्चिमी हिन्दुस्तान के लोगों को तमिल सीखनी चाहिए। सारे हिन्दुस्तान के लिए जो भाषा चाहिए वह तो हिन्दी ही होनी चाहिए। उसे उर्दू या देवनागरी लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिए। हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्ध ठीक रहें, इसलिए बहुत से हिन्दुस्तानियों को इन दोनों लिपियों को जान लेना जरूरी है। ऐसा होने से हम आपस के व्यवहार में अंग्रेजी को निकाल सकेंगे। यह सबसे अधिक उनके लिए जरूरी है जो बौद्धिक एवं सांस्कृतिक रूप से अंग्रेजों की सभ्यता के गुलाम बन गये हैं। हमारी गुलामी की वजह से देश की प्रजा गुलाम बनी है।

अगर हम गुलामी से छूट जायें तो प्रजा तो छूट ही जायेगी। गांधीजी बड़े आत्म-विश्वास से कहते हैं कि हिन्दुस्तान कभी नास्तिक नहीं बनेगा। हिन्दुस्तान की भूमि में नास्तिक कभी भी फल-फूल नहीं पायेंगे। हिन्दुस्तान को असली रास्ते पर लाने के लिए आधुनिकता में रसे-बसे हिन्दुस्तानियों को ही पारम्परिक हिन्दुस्तान के लोक कल्याणकारी रास्ते पर आना होगा। बाकी करोड़ों लोग तो सही रास्ते पर हैं ही। पारम्परिक तरीकों में सुधार, बिगाड़, उन्नति, अवनति काल-क्रम के अनुसार होते ही रहेंगे। पश्चिम की सभ्यता को निकाल बाहर करने की ही हमें कोशिश करनी चाहिए। अन्य प्रकार का असन्तुलन काल-क्रम से अपने-आप ठीक हो जायेगा।

निष्कर्ष

गांधीजी के तर्कों से प्रभावित होकर पाठक गांधीजी से पूछता है कि आपके विचारों से ऐसा लगता है कि आप एक तीसरा ही पक्ष कायम करना चाहते हैं। आप उग्र राष्ट्रवादी भी नहीं हैं और नरमपंथी सुधारवादी भी नहीं हैं। इस पर गांधीजी कहते हैं कि उनके मन में तीसरे पक्ष का कोई खयाल नहीं है। सबके विचार एक से नहीं रहते। वे नहीं मानते कि नरमपंथियों में भी सबके विचार एक जैसे हैं। जिसे लोगों की सेवा ही करनी है, उसके लिए पक्ष कैसा? वह तो नरमपंथियों (मॉडरेटों) की भी सेवा करेगा और गरमपंथियों (एक्स्ट्रमिस्टों) की भी। जहाँ उनके विचार से उनकी राय अलग पड़ेगी वहाँ वे नम्रता से उन्हें बतलाया करेंगे और अपना काम करते चलेंगे। वे गरमपंथियों से कहते हैं कि आपका लक्ष्य हिन्दुस्तान के लिए स्वराज हासिल करने का है। स्वराज आपकी कोशिश से मिलने वाला नहीं है। स्वराज तो सबको अपने लिए पाना चाहिए और सबको उसे अपना बनाना चाहिए। दूसरे लोग जो स्वराज दिला दें वह स्वराज नहीं है बल्कि परराज्य है। इसलिए अगर आप ऐसा मानते हों कि सिर्फ अंग्रेजों को इस देश से निकालकर अपना स्वराज पा लिया तो यह आपकी खुशफहमी है। सच्चा स्वराज आप गोला बारूद से अंग्रेजों को भगा कर नहीं पा सकते। गोला-बारूद हिन्दुस्तान को सधेगा नहीं। इसलिए सत्याग्रह पर ही भरोसा रखिए। मन से ऐसा शक भी पैदा न होने दीजिए कि स्वराज पाने के लिए हमें गोला-बारूद की जरूरत है। नरमपंथियों से वे कहते हैं कि हम खाली आवेदन करना चाहें तो यह हमारी हीनता होगी। उसमें हम अपना हलकापन कबूल करते हैं। 'अंग्रेजों से सम्बन्ध रखना हमारे लिए जरूरी है' ऐसा कहना या मानना हमारे लिए ईश्वर को चोर बनाने जैसा हो जाता है। हमें ईश्वर के सिवा और किसी की जरूरत है—ऐसा कहना ठीक नहीं है। और यह कहना कि 'अंग्रेजों के बिना आज तो हमारा काम चलेगा नहीं' आत्महीनता के साथ-साथ अंग्रेजों को अभिमानी बनाने जैसा होगा।

अंग्रेज अगर बोरिया-बिस्तर बाँधकर चले जायेंगे, तो हिन्दुस्तान अनाथ नहीं हो जायेगा। अगर वे गये तो सम्भव है कि जो लोग उनके दबाव से चुप रहे होंगे, वे लड़ेंगे। फोड़े को दबाकर रखने से कोई फायदा नहीं। उसे तो फूटना ही चाहिए। इसलिए अगर हमारे भाग्य में आपस में लड़ना ही लिखा होगा तो हम लड़ मरेंगे। उसमें कमजोर को बचाने के बहाने किसी दूसरे को बीच में पड़ने की जरूरत नहीं। इसी से तो अब तक हमारा सत्यानाश हुआ है। नरमपंथियों को भी इस बात पर अच्छी तरह विचार करना चाहिए कि इस तरह कमजोर को बचाना उसे और भी कमजोर बनाने जैसा है। "स्वराज में अंधाधुंधी बरदाश्त की जा सकती है, लेकिन परराज्य की व्यवस्था हमारी कंगाली को बताती है।" हम किसी का भी जुल्म या दबाव नहीं चाहते—चाहे वह गोरा हो या हिन्दुस्तानी हो। देश हित में नरमपंथी और गरमपंथी दोनों को मिलना चाहिए। दोनों का एक-दूसरे के प्रति डर रखने की या अविश्वास करने की जरूरत नहीं है।

इसी तरह गांधीजी अंग्रेजों से कहते हैं कि आप हमारे राजा जरूर हैं। आप हमारे देश में रहें इसका भी मुझे द्वेष नहीं है। लेकिन राजा होते हुए भी आपको हमारे सेवक की तरह रहना होगा। आपका कहा हमें नहीं, बल्कि हमारा कहा आपको करना होगा। आज तक आप इस देश का जो धन ले गये, वह आपने भले ही हजम कर लिया। लेकिन अब आगे आपका ऐसा करना हमें पसन्द नहीं होगा। आप हिन्दुस्तान में सिपाहीगिरी करना चाहें तो रह सकते हैं। हमारे साथ व्यापार करने का लालच आपको छोड़ना होगा। जिस सभ्यता की आप हिमायत करते हैं उसे हम नुकसानदेह मानते हैं। अपनी सभ्यता को हम आपकी सभ्यता से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ समझते हैं। आपको भी ऐसा लगे तो उसमें आपका लाभ ही है। लेकिन ऐसा न लगे तो भी आपको आपकी ही कहावत (रोम में रोमन बनकर रहो) के मुताबिक, हमारे देश में हिन्दुस्तानी होकर रहना होगा। इसी क्रम में गांधीजी अंग्रेजों को कहते हैं कि आपको ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जिससे हमारे धर्म को बाधा पहुँचे। राजकर्ता होने के नाते आपका फर्ज है कि हिन्दुओं की भावना का आदर करने के लिए, आप गाय का मांस खाना छोड़ दें और मुसलमानों के खातिर सूअर का मांस खाना छोड़ दें। हम गुलामी के कारण दब गये थे इसलिए आपके खिलाफ बोल नहीं सके, लेकिन आप ऐसा न समझें कि आपके इस बर्ताव से हमारी भावनाओं को चोट नहीं पहुँची है। हम स्वार्थ या दूसरे भय से आज तक कह नहीं सके, लेकिन अब यह कहना हमारा फर्ज हो गया है।

हम मानते हैं कि आपकी कायम की हुई संस्थाएँ और अदालतें हमारे किसी काम की नहीं हैं। उनके बजाय हमारी पुरानी संस्थाएँ और अदालतें ही हमें चाहिए। हिन्दुस्तान की आम भाषा अंग्रेजी नहीं बल्कि हिन्दी है। वह आपको सीखनी होगी और हम तो आपके साथ अपनी भाषा में ही व्यवहार करेंगे। आप रेलवे और फौज के लिए बेशुमार रुपये खर्च करते हैं यह हमसे देखा नहीं जाता। हमें उसकी जरूरत नहीं मालूम होती। रूस का डर आपको होगा हमें नहीं है। रूसी आयेंगे तब हम उनसे निबट लेंगे, आप होंगे तो हम दोनों मिलकर उनसे निबट लेंगे। हमें विलायती या यूरोपीय कपड़ा नहीं चाहिए। इस देश में पैदा होने वाली चीजों से ही हम अपना काम चला लेंगे। आपकी एक आँख मैनचेस्टर पर और दूसरी हम पर रहे, यह अब नहीं चल पायेगा। आपका और हमारा स्वार्थ एक ही है, इस तरह यदि आप भी सोचेंगे तभी हमारा साथ बना रह सकता है।

गांधीजी अपनी बात को जारी रखते हुए अंग्रेजों से आगे कहते हैं कि आपसे यह सब हम बेअदबी से नहीं कह रहे हैं। आपके पास हथियार-बल है, भारी जहाजी सेना है। उसके खिलाफ वैसी ही ताकत से हम नहीं लड़ सकते। लेकिन आपको अगर ऊपर कही गई बात मंजूर न हो तो आपसे हमारी नहीं बनेगी। आपकी मर्जी में आये तो और मुमकिन हो तो आप हमें तलवार से काट सकते हैं, परन्तु हमें जो पसन्द नहीं है वह अगर आप करेंगे, तो हम आपकी मदद नहीं करेंगे और बगैर हमारी मदद के आप इस देश में एक कदम भी नहीं चल सकेंगे। सम्भव है कि अपनी सत्ता के मद में हमारी इस बात को आप हँसी में उड़ा दें। लेकिन अगर हममें कुछ दम होगा, तो आप देखेंगे कि आपका मद बेकार है और आपका हँसना विनाश-काल की विपरीत बुद्धि की निशानी है। हम मानते हैं कि आप भी स्वभाव से धार्मिक राष्ट्र की प्रजा हैं। हम तो धर्म स्थान में ही बसे हुए हैं। आपका और हमारा कैसे साथ हुआ, उसमें उतरना फिजूल है। लेकिन अपने इस सम्बन्ध का हम दोनों अच्छा उपयोग कर सकते हैं।

इसके आगे गांधीजी व्यंग्यात्मक रूप से कहते हैं कि हिन्दुस्तान में आनेवाले आप जैसे अंग्रेज अंग्रेजी-प्रजा के सच्चे नमूने नहीं हैं; और हम जो आधे अंग्रेज जैसे बन गये हैं वे भी सच्ची हिन्दुस्तानी-प्रजा के नमूने नहीं कहे जा सकते। अंग्रेजी-प्रजा को अगर आपकी करतूतों के बारे में सब कुछ मालूम हो जाये तो वह आपके कामों के खिलाफ हो जायेगी। हिन्द की प्रजा ने तो आपके साथ बहुत थोड़ा ही सम्बन्ध रखा है। आप अपनी सभ्यता को (जो दरअसल विनाशकारी है) छोड़कर

अपने धर्म की छानबीन करेंगे तो आपको लगेगा कि हमारी माँग ठीक है। आप हिन्दुस्तान में रह तभी सकते हैं अगर आप इस देश की संस्कृति को अपना लें। अगर हिन्दुस्तानी ढंग से आप यहाँ रहना चाहेंगे तो आपसे हमें बहुत थोड़ा सीखना है जबकि हमसे आपको बहुत कुछ सीखना है। इस तरह हम (एक-दूसरे से) लाभ उठायेंगे और सारी दुनिया को लाभ पहुँचायेंगे। लेकिन यह तो तभी हो सकता है जब हमारे सम्बन्ध की जड़ धर्म क्षेत्र में जमे।

इससे आगे के प्रकरण में पाठक गांधीजी से राष्ट्र के नाम उनके संदेश के बारे में पूछता है। इस पर गांधीजी कहते हैं कि वे इस राष्ट्र से कहेंगे कि जिस हिन्दुस्तानी प्रजा को स्वराज की सच्ची खुमारी या मस्ती चढ़ी होगी वही अंग्रेजों से ऊपर की बातें कह सकेगा और उनके रौब से नहीं दबेगा, परन्तु सच्ची मस्ती तो उसी को चढ़ सकती है, जो ज्ञानपूर्वक-समझबूझकर यह मानता हो कि हिन्द की सभ्यता सबसे अच्छी है और यूरोप की सभ्यता चार दिन की चाँदनी है। यूरोप जैसी सभ्यताएँ तो आज तक कई हो गयीं और मिट्टी में मिल गयीं; आगे भी कई होंगी और मिट्टी में मिल जायेंगी। सच्ची खुमारी उसी की हो सकती है जो आत्मबल अनुभव करके शरीर-बल से नहीं दबेगा और निडर रहेगा तब सपने में भी तोप-बल का उपयोग करने की बात नहीं सोचेगा। सच्ची खुमारी उसी हिन्दुस्तानी को रहेगी, जो आज की लाचार हालत से उब गया होगा। अगर ऐसा हिन्दुस्तानी संख्या में एक भी होगा तो वह भी ऊपर की बातें स्वाभाविक रूप से अंग्रेजों से कह सकेगा और अंग्रेजों को भी उसकी बात सुननी पड़ेगी। ऊपर की माँग केवल माँग नहीं है, बल्कि वह हिन्दुस्तानियों के मन की दशा की अभिव्यक्ति है। माँगने से कुछ नहीं मिलेगा। वह तो हमें खुद लेना होगा। उसे लेने की नैतिक ताकत हम में अवश्य होनी चाहिए। यह ताकत उसी में होगी—

(1) जो अंग्रेजों की भाषा का उपयोग लाचारी से ही करेगा।

(2) जो वकील होगा वह अपनी वकालत छोड़ देगा और खुद घर में चरखा चलाकर कपड़े बुन लेगा।

(3) जो वकील होने के कारण अपने ज्ञान का उपयोग सिर्फ लोगों को समझाने और लोगों की आँखें खोलने में करेगा।

(4) जो वकील होकर वादी-प्रतिवादी—मुद्दई और मुद्दालेह के झगड़ों में नहीं पड़ेगा, अदालतों को छोड़ देगा और अपने अनुभव से दूसरों को अदालतें छोड़ने के लिए समझायेगा।

(5) जो वकील होते हुए भी जैसे वकालत छोड़ेगा वैसे न्यायाधीशपन भी छोड़ेगा।

(6) जो डॉक्टर होते हुए भी अपना पेशा छोड़ेगा और केवल शरीर के तात्कालिक सुख को बढ़ाने के साथ-साथ मनुष्यों की भीतरी तन्दुरूस्ती बढ़ाने के लिए प्रकृति एवं आत्मा के रहस्यों की खोज करेगा।

(7) जो डॉक्टर होने से समझेगा कि खुद चाहे जिस धर्म का हो, लेकिन अंग्रेजी वैद्यशालाओं फार्मेसियों में जीवों पर जो निर्दयता की जाती है, वैसी निर्दयता से बनी हुई दवाओं से शरीर को चंगा करने के बजाय प्राकृतिक चिकित्सा को प्रोत्साहित करेगा।

(8) जो डॉक्टर होने पर भी खुद चरख चलायेगा और जो लोग बीमार होंगे उन्हें उनकी बीमारी का सही कारण बताकर उसे दूर करने के लिए कहेगा। निकम्मी दवाएँ देकर उन्हें गलत आदत नहीं लगायेगा। यानी जो सेवा भाव से चिकित्सा करेगा और जीविका के लिए शारीरिक श्रम करेगा।

(9) जो धनी होने पर भी धन की परवाह किये बिना अपने मन में जो होगा वही कहेगा और बड़े-से-बड़े सत्ताधीश की भी परवाह नहीं करेगा।

(10) जो धनी होने पर अपना रूपया चरखे चालू करने में खरचेगा और खुद सिर्फ स्वदेशी माल का इस्तेमाल करके दूसरों को भी ऐसा करने के लिए बढ़ावा देगा।

(11) दूसरे हर हिन्दुस्तानी की तरह जो समझेगा कि अंग्रेजी राज का यह समय पश्चाताप का, प्रायश्चित्त का और शोक का है।

(12) जो दूसरे हर हिन्दुस्तानी की तरह यह समझेगा कि देश की गुलामी के लिए अंग्रेजों का कसूर निकालना बेकार है चूँकि वे हमारे कसूर की वजह से हिन्दुस्तान में आये, हमारे कसूर के कारण ही वे यहाँ शासन करते हैं और हमारा कसूर जब दूर होगा तब वे यहाँ से चले जायेंगे या गुणात्मक रूप से बदल जायेंगे।

(13) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि मातम के वक्त शौक-मौज नहीं हो सकते। जब तक हमें स्वराज नहीं मिलता है तब हमारा जेल में रहना या देश निकाला भोगना ही ठीक है।

(14) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि लोगों को समझाने के बहाने जेल में न जाने की खबरदारी रखना निरा मोह है।

(15) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि कहने से करने का असर अद्‌भुत होता है; हम निडर होकर जो मन में है वही कहेंगे और इस तरह कहने का जो नतीजा आये उसे सहेंगे, तभी हम अपने कहने का असर दूसरों पर डाल सकेंगे।

(16) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि हम दु:ख सहन करके ही बन्धन यानी गुलामी से छूट सकेंगे।

(17) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि अंग्रेजों की सभ्यता को बढ़ावा देकर हमने जो पाप किया है, उसे धो डालने के लिए अगर हमें मरने तक भी अंडमान द्वीप में रहना पड़े तो वह कुछ ज्यादा कष्टकर नहीं होगा।

(18) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि कोई भी राष्ट्र बिना दु:ख सहन किये आज तक ऊपर नहीं चढ़ा है। लड़ाई के मैदान में भी दु:ख सहन ही वीरता की कसौटी होता है न कि दूसरों को मारना। सत्याग्रह के बारे में भी ऐसा ही है।

(19) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि यह कहना एक खोखला बहाना भर है कि 'जब सब लोग त्याग या बलिदान करेंगे तब हम भी करेंगे'। अगर मैं स्वादिष्ट भोजन देखता हूँ, तो उसे खाने के लिए दूसरे की राह नहीं देखता। ऊपर कहे मुताबिक प्रयत्न करना, दु:ख सहना, एक प्रकार का स्वादिष्ट भोजन है। उत्साह से ही इसका मजा लिया जा सकता है। यह सब करने के क्रम में न तो मुझे सबकी परवाह है, न आपको होनी चाहिए। 'आप अपना देख लीजिए, मैं अपना देख लूँगा'—यह स्वार्थ-वचन माना जाता है, लेकिन यह परमार्थ वचन भी है। मैं पहले अपना भला करूँगा, तभी दूसरों का भला कर सकूंगा। मैं अपना कर्तव्य कर लूँ इसी में पुरुषार्थ की सारी सिद्धियाँ समायी हुई हैं।

निष्कर्ष के रूप में गांधीजी पाठकों को बतलाते हैं कि—

(1) आपके मन का राज्य स्वराज है।

(2) आपकी कुंजी सत्याग्रह, आत्मबल या करूणा बल है।

(3) उस बल को आजमाने के लिए स्वदेशी को पूरी तरह अपनाने की जरूरत है।

(4) हम जो करना चाहते हैं वह अंग्रेजों को सजा देने के लिए नहीं करें, बल्कि इसलिए करें कि ऐसा करना हमारा कर्तव्य है। मतलब यह कि अगर अंग्रेज नमक-कर रद्द कर दें, लिया हुआ धन वापस कर दें, सब हिन्दुस्तानियों को बड़े-बड़े ओहदे दे दें और अंग्रेजी लश्कर हटा लें, तब भी हम उनकी मिलों का कपड़ा नहीं पहनेंगे, उनकी अंग्रेजी भाषा काम में नहीं लायेंगे और उनकी हुनर-कला का उपयोग नहीं करेंगे। हमें यह समझना चाहिए कि हम वह सब दरअसल इसलिए नहीं करेंगे क्योंकि वह सब नहीं करने योग्य है।

वास्तव में, 'हिन्द स्वराज' में महात्मा गांधी ने जो भी कहा है वह अंग्रेजों के प्रति द्वेष होने के कारण नहीं, बल्कि उनकी सभ्यता के प्रतिवाद में कहा है। गांधीजी का स्वराज दरअसल एक वैकल्पिक सभ्यता का शास्त्र या ब्लू प्रिंट है, वह राज्य की सत्ता प्राप्त करने का कोई राजनीतिक एजेंडा या मेनिफेस्टो नहीं है।

भाग - दो

हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता

भूमिका

'हिन्द स्वराज' आज की नयी पीढ़ी के बच्चों, युवकों, युवतियों एवं छात्र-छात्राओं के लिए बहुत प्रासंगिक पुस्तिका है। भारत की पुरानी पीढ़ी, खासकर पढ़े-लिखे लोगों की पुरानी पीढ़ी ने 'हिन्द स्वराज' के प्रति कुल मिलाकर उपेक्षा भाव ही दिखलाया। हालाँकि पुरानी पीढ़ी के लोगों ने खुद गांधीजी को एवं उनके सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यों को न सिर्फ याद रखा बल्कि उस पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी हल्के एवं गम्भीर दोनों अर्थों में विचार भी किया, परन्तु गांधीजी ने जो लिखा, खासकर उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तिका 'हिन्द स्वराज' को व्यवस्थित तरीके से पढ़ने एवं गांधीजी ने हिन्दुस्तान के महत्त्वपूर्ण चिन्तक के रूप में जिस तरीके से पढ़ना एवं बोला उसके गम्भीर निहितार्थों को समझने की कोशिश इन लोगों ने नहीं की और जिन लोगों ने 'हिन्द स्वराज' को पढ़ा उनमें से अधिकांश लोगों ने गांधीजी को गम्भीर चिन्तक या व्यावहारिक द्रष्टा नहीं माना। उनके जीवन-काल में ही उनके प्रमुख अनुयायियों एवं आत्मीय मित्रों ने 'हिन्द स्वराज' को अव्यावहारिक एवं कमजोर कृति कहा तो उनके विरोधियों ने उन्हें एक खतरनाक एवं आत्ममुग्ध बहुरूपिया तक कहा। किसी ने कहा कि वे अंग्रेजी राज के एजेंट थे। किसी ने कहा कि वे तो हिन्दू हैं ही नहीं, वे तो छद्म ईसाई हैं और भारत में गैर-आधुनिक ईसाइयों का धर्म युद्ध, शैतानी आधुनिकता के प्रतीक अंग्रेजी साम्राज्य से वे भारत में लड़ रहे थे। किसी ने उन्हें भारत के बँटवारे के लिए उत्तरदायी ठहरा दिया तो किसी ने साफ-साफ कह दिया कि खिलाफत आन्दोलन को समर्थन देकर उन्होंने भारतीय मुसलमानों के सुधारवादी आन्दोलन को धक्का पहुँचाया एवं कट्टरवादी धर्माधता के विषाणु को वैधता एवं सुरक्षा प्रदान की। किसी ने इसलिए उनसे द्वेष पाला कि उन्होंने भगत सिंह को फांसी से बचाने के लिए

अंग्रेजों पर दबाव नहीं बनाया तो किसी को ये लगा कि पट्टाभिसीतारमैया के प्रति अतिशय प्रेम के कारण उन्होंने नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के साथ अन्याय किया। समर्थकों एवं विरोधियों, दोनों को ही शुरू से आज तक यह समझ में नहीं आया कि जब कांग्रेस पार्टी का प्रचण्ड बहुमत सरदार पटेल को स्वतन्त्र भारत का प्रधानमंत्री बनाना चाहता था तो उन्होंने अपने वीटो के इस्तेमाल द्वारा जवाहरलाल नेहरू को प्रधानमंत्री क्यों बनाया? आज के समय में जब गांधीजी एवं नेहरूजी के पत्राचार आसानी से उपलब्ध हैं, उपरोक्त निर्णय और भी रहस्यपूर्ण लगता है। चूँकि 1947 से काफी पहले 1930 के दशक से ही नेहरूजी एवं गांधीजी के विचारों में गुणात्मक अन्तर उनके समकालीनों में चर्चा के विषय बनने लगे थे और पत्र-दर-पत्र यह दूरी बढ़ती गई। अब जबकि कांग्रेस पार्टी के लिए भी नेहरूवाद का आर्कषण नहीं रहा और गांधीजी के समकालीन विरोधियों के वैचारिक वंशजों में गांधीजी का आकर्षण बढ़ रहा है और उनकी विरासत को लेकर नयी रस्सा-कस्सी शुरू हो गई है। गांधीजी के जीवन में ही यूरोप के चिन्तकों का एक वर्ग ईसाई अर्थों में उन्हें ईश्वर का आदमी और महात्मा मानने लगा था और जैसे-जैसे पर्यावरण असन्तुलन एवं हिंसा से मुक्ति के लिए पश्चिम के संवेदनशील स्त्री-पुरुष अंगड़ाई ले रहे हैं, वैसे-वैसे महात्मा गांधी के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है, परन्तु महात्मा गांधी और 'हिन्द स्वराज' के बारे में लोगों की समझ बढ़ रही है, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता।

हमारा मानना है कि अगर उनके जीवन-काल में भी 'हिन्द स्वराज' को ठीक से समझने की कोशिश की जाती, उसके पूर्वग्रह रहित पठन-पाठन की संस्कृति विकसित होती तो गांधीजी की व्यावहारिकता, भारतीयता, सनातनी हिन्दू पारम्परिकता एवं दूरदृष्टि के बारे में संशय की स्थिति नहीं रहती। भारत की नयी पीढ़ी अगर बिना किसी पूर्वानुमान, संशय एवं उपेक्षा के 'हिन्द स्वराज' का जिज्ञासु भाव से अध्ययन करेगी तो हमारा पूरा विश्वास है कि उसे गांधीजी बहुत सरल, व्यावहारिक, युक्तिपूर्ण, प्रासंगिक एवं विश्वसनीय नजर आयेंगे। सम्भवत: 'हिन्द स्वराज' 21वीं सदी के लिए ही लिखी गई थी। आधुनिकता के सभ्यता-मूलक रोग का जन्म भले ही इंग्लैंड के 'ग्लोरियस रिवोल्यूशन' (1688) से माना जाता है और लॉक की पुस्तक 'ऐसे कनसर्निंग ह्युमन अंडरस्टैंडिंग' (1690) को भले ही आधुनिकता का पहला व्याकरण

माना जाता हो, परन्तु अमेरिका के 'स्वतंत्रता संग्राम' (1776) एवं 'फ्रांसीसी क्रांति' (1789) से पहले पश्चिम की सभ्यता को आधुनिक नहीं कहा जाता। 1688 से 1789 तक का काल संक्रमण का काल ही माना जाता है। ठीक उसी तरह 1968 से आधुनिकता के अन्त और उत्तर-आधुनिक युग के जन्म की बात भले कही जाती है, परन्तु बर्लिन की दीवार के ढहने' (1989) और सोवियत संघ के बिखरने के साथ 'शीत युद्ध की समाप्ति' (1991) से पहले उत्तर-आधुनिक सभ्यता की बात नहीं कही जाती। इराक पर अमेरिका के आक्रमण के मुद्दे पर जिस तरह शेष विश्व ने अमेरिका और जॉर्ज बुश (जूनियर) के साथ असहयोग किया, ऐसा विश्वव्यापी असहयोग आधुनिक सभ्यता में न कभी हुआ न हो सकता था। इस बदले हुए सन्दर्भ में यह भी हुआ है कि अब भारत के अन्तर्गत मैकॉले की शिक्षा से प्रभावित मध्यवर्ग संख्या, आकार एवं प्रभाव की दृष्टि से न सिर्फ भारत में बल्कि पूरी दुनिया में इतना फल-फूल चुका है कि 17 जनवरी, 2005 को दैनिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित एक आकलन के अनुसार दुनिया का हर चौथा इंजीनियर भारतीय है और 140 करोड़ की भारतीय जनसंख्या में विकसित दुनिया द्वारा स्थापित मानदंडों के अनुसार करीब 30 करोड़ लोग अपनी समृद्धि और ऐश्वर्य से चमक रहे हैं। सकल राष्ट्रीय उत्पाद एवं व्यापार सूचकांक के आधार पर भारत का स्थान इस वर्ष अमेरिका, चीन और जापान के बाद चौथा है। स्टीफेन कोहेन और थॉमस एल. मेगनंटी से लेकर सी.आई.ए. के रणनीतिकारों द्वारा बौद्धिक जगत में भारत को एक उभरती हुई विश्व शक्ति के रूप में देखा, समझा और सराहा जा रहा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, सौन्दर्य प्रतियोगिता कराने वालों, विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से लेकर भारतीय राजनीति के दोनों महत्त्वपूर्ण गठबन्धन (यू.पी.ए. एवं एन.डी.ए.) के आर्थिक नीति निर्माताओं तक की नजर इसी 30 करोड़ चमकते भारतीयों (जिन्हें इंडियन कहा जाता है) पर है, परन्तु बाकी के 100 करोड़ से अधिक भारतीयों के बारे में लोग हिकारत की दृष्टि से देखते हैं और कई बार तो उपेक्षा भाव से देखना भी नहीं चाहते। उन्हें लगता है कि यदि प्रति व्यक्ति आय के हिसाब से चौथे नम्बर के समृद्ध देश इंडिया का स्थान 100वाँ है तो इसकी जिम्मेदारी इन्हीं 100 करोड़ से अधिक भारतीयों की है न कि 30 करोड़ समृद्ध एवं आधुनिक शिक्षा प्राप्त सभ्य 'इंडियंस' की।

21वीं सदी के पाँचवें वर्ष में 'इंडिया' की ताकत, समृद्धि और कौशल तो सबको दिख रहा है और खुलेआम स्वीकारा भी जा रहा है, लेकिन 'भारत' और इसके लोक में रसे-बसे भारतीयों की शक्ति और कुशलता न तो आसानी से दिखती है, न स्वीकारी जाती है। हद तो यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के 78 वर्ष बाद भी अधिकांश पढ़े-लिखे भारतीयों को अपनी शक्ति 'शक्ति' नहीं कमजोरी दिखती है। अब वह अपने संस्कार और संस्कृति को अपनी शक्ति का स्रोत नहीं मानता, मात्र अपनी पहचान का लक्षण मानने लगा है। दूसरी ओर 30 करोड़ चमकते इंडिया वालों के एक वर्ग को लगने लगा है कि ये 100 करोड़ से अधिक 'गंवार, काहिल, असभ्य' भारतीय लोग उनके ऊपर, उनके इंडिया के ऊपर बोझ हैं। अत: अजीब-अजीब सुझाव आने लगा है। कोई कहता है कि दक्षिण एवं पश्चिम भारत को तथाकथित 'गाय क्षेत्र' (उत्तर एवं पूर्वी भारत) से अलग हो जाना चाहिए। तो कुछ दूसरे कहते हैं कि चीन में जिस तरह हाँगकाँग का स्वायत्त क्षेत्र है, उसी तरह के 20-20 स्वायत्त क्षेत्र भारत में भी विकसित करना चाहिए। कोई कहता है कि कश्मीर को जम्मू एवं लद्दाख से अलग करके स्वतंत्र कर दो, चूँकि आर्थिक दृष्टि से 1947 से कश्मीर हमारे लिए बोझ ही तो है! तो कुछ लोग उत्तर-पूर्वी भारत के संवेदनशील आन्दोलनकारियों से आजिज आकर आर्थिक नुकसान देखते हुए उन्हें स्वतंत्र करने की बात करने लगे हैं।

ऐसी परिस्थिति में महात्मा गांधी के 'हिन्द स्वराज' का पुनर्पाठ बहुत प्रासंगिक हो जाता है। करीब 100 वर्ष पहले सामान्य अंग्रेज और अन्य यूरोपीय लोग भी भारत को इसी तरह हिकारत से देखते थे। अब कुछ भारतीय लोगों ने भी इसी उपनिवेशवादी दृष्टि से देखना शुरू कर दिया है, परन्तु उभरती हुई विश्वव्यवस्था में आज इंग्लैंड की स्थिति क्या है? जिन अंग्रेजों के राज में कहते हैं सूरज नहीं डूबता था वह खुद क्यों डूबा? कभी अमेरिका और भारत दोनों अंग्रेजी राज के उपनिवेश थे, आज उपनिवेश केन्द्र में है और आधुनिक युग के राजा लोग (स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैंड, इंग्लैंड और फ्रांस) विश्व व्यवस्था के केन्द्र से बहुत दूर परिधि की तरफ पहुँचकर अपने स्वर्णिम अतीत को सहला रहे हैं।

उसी तरह, आज के भारत में भी एक अजीब बँटवारा उभर रहा है जिसमें करीब 100 करोड़ से अधिक भारतीयों के पास प्रजातांत्रिक अधिकार एवं

संवैधानिक मत के आधार पर केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों में शासन का वीटो है, तो 30 करोड़ इंडियंस के पास धन, तकनीक एवं प्रशिक्षित पेशों का व्यावसायिक हुनर है। आज जरूरत इस बात की है कि भारत और इंडिया की खाई को पाटने के लिए एक नयी दृष्टि तथा नयी संस्थाएँ विकसित की जा सकें। दोनों एक-दूसरे की शक्ति को समझें एवं स्वीकारें। आज भारत के पश्चिम परस्त तबके यानी इंडिया वालों को 'हिन्द स्वराज' अवश्य पढ़ना चाहिए, चूँकि हमारी जानकारी में आम भारतीय एवं उनकी सभ्यता-मूलक दृष्टि की जैसी सरल एवं सुबोध अभिव्यक्ति इस पुस्तिका में हुई है वैसी अन्यत्र नहीं हुई है। साथ ही, आम भारतीयों को भी आज इस पुस्तक को पढ़ने से बहुत लाभ होगा, चूँकि इसमें उनकी सांस्कृतिक दृष्टि से आधुनिक सभ्यता के मूल्यांकन का जो सूत्र है वह उन्हें एक ओर 30 करोड़ इंडियंस को समझने में मदद करेगा तो दूसरी ओर, इंग्लैंड के उत्थान एवं पतन को भी समझने की दृष्टि देगा। हमारे ' इंडियंस' चाह कर भी हमसे अलग नहीं हो पायेंगे, चूँकि अब भी समृद्ध भारतीय लोग उस तरह के आधुनिक समूह नहीं बन पाये हैं, जिस तरह के आधुनिक अंग्रेज लोग 1909 के आस-पास थे। भारत एक सभ्यता है, इसके आम (100 करोड़ से अधिक) एवं खास (30 करोड़) समूहों में अब भी बहुत कुछ साझा है। उदाहरण के लिए, आकांक्षा के स्तर पर दोनों समूह के भारतीय लोग अब भी अपने को ब्रह्मांड का केन्द्र नहीं समझते। जबकि यूरोपीय आधुनिकतावाद के दौर में आम एवं खास, अंग्रेज तथा अन्य यूरोपीय देशों के लिए मनुष्य को ब्रह्मांड का केन्द्र एवं हर तरह के मूल्यांकन की कसौटी या मानदंड मानने लगे थे। इसी तरह भारतीय अब भी मनुष्य को 'मशीन' नहीं मानते। भारतीय लोग अपने को पशु, मशीन और देवता से अलग अवश्य मानते हैं। यह भाव भी रहा है कि 84 लाख योनियों में मनुष्य तन बहुत भाग्य से मिलता है। इसके बावजूद भारत में मनुष्य को यूरोपीय मानवतावादियों की तरह सृष्टि का केन्द्र और भोक्ता नहीं माना जाता।

भारतीयों में आज भ्रम, विचलन एवं आत्मविश्वास की कमी भी अवश्य दिखती है। उनकी मूढ़ता, जिद और समस्याएँ भी कम नहीं हैं। इसके बावजूद सनातनी अर्थों में उनको अपने मनुष्य होने का अहसास और मनुष्य बने रहने की महत्ता मालूम है। मनुष्य तन बहुत भाग्य से मिलता है, इसका अहसास

तो है, परन्तु मनुष्य होने का अहंकार अब भी नहीं है। आज भी उनके लिए मनुष्यता की चिन्ता केवल रोटी, कपड़ा, मकान एवं यूरोपीय अर्थों में पहचान एवं अधिकार भर सीमित नहीं है। मुक्ति, सृष्टि, सृजन, संरक्षण, समन्वय और समायोजन उनके व्यक्तिगत पुरुषार्थ की उत्प्रेरणा के आज भी स्रोत हैं—आम लोगों के बीच सजग रूप में, खास लोगों के बीच अर्द्ध-सजग रूप में।

फलस्वरूप, हर भारतीय और भारतीय मूल का व्यक्ति अपनी आमदनी और सामर्थ्य का दूसरे समाजों एवं संस्कृतियों के व्यक्तियों की तुलना में काफी बड़ा भाग अपने ऊपर खर्च करने के बदले या तो दूसरों के ऊपर खर्च करता है या भविष्य एवं बाद की पीढ़ी के लिए बचाकर रखता है। अपना सब कुछ अपने लिए है और अपने ऊपर खर्च करने के लिए है, ऐसा एक सामान्य भारतीय या भारतीय मूल का व्यक्ति आज भी नहीं सोचता चाहे वह वैष्णव हो या शैव, शाक्त हो या प्रकृति पूजक, जैन हो या मुसलमान, बौद्ध हो या सिख या फिर भारतीय मूल का ईसाई ही हो। आज जिसे साउथ एशिया कहा जाता है, उसे पारम्परिक लोग अखण्ड भारत या सनातनी भारत कहते हैं, इसके उपभोग की एक विशिष्ट संस्कृति रही है। इसमें खुद कमाना, दूसरों को खिलाना और जो बचे वह खाना संस्कृति कहलाती है। खुद कमाना और खाना प्रकृति कहलाती है। दूसरों के श्रम की कमाई खाना विकृति मानी जाती है। यह पढ़े-लिखे वर्गों में कुछ कमजोर अवश्य हुई है, परन्तु दूसरी सभ्यताओं की उपभोक्तावादी संस्कृति से तुलना करने पर, आज भी कायम दिखती है। भारतीय सभ्यता का आम वाहक तो इस पर किसी-न-किसी तरह से अब भी कायम है ही। भारत में आज भी गुप्तदान एवं नि:स्वार्थ सेवा की परम्परा कमोबेश कायम है। आज भी समाज की इकाई व्यक्ति नहीं परिवार ही है। कर्तव्य का महत्त्व आज भी अधिकार से ज्यादा माना जाता है।

अपने संकट एवं कंगाली के बावजूद एक भारतीय जीवन को बोझ नहीं मानकर उत्सव मानता है। जन्म, विवाह, मृत्यु, खुशी और गम पर उत्सव, विलास और सामूहिकता का संगम आज भी पुनर्नवता एवं सनातनता का अहसास कराने से नहीं चूकता। यहाँ आज भी विविधता की न सिर्फ रक्षा की जाती है, बल्कि आदर किया जाता है। आज भी निरन्तरता के दायरे में ही परिवर्तन होता है।

भारतीय समाज में विचारधारा अथवा किताब एवं तार्किक संगति की तुलना में आत्मान्वेषण, अपरोक्ष अनुभूति, कथनी एवं करनी में ऐक्य तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में संगति को ज्यादा महत्त्व दिया जाता है। हमारे यहाँ सृजन की पात्रता हासिल करने के लिए मुक्ति की अपरोक्ष अनुभूति आवश्यक मानी जाती है और इस प्रकार की मुक्ति के लिए विविध मार्ग, पंथ, दर्शन प्रणाली एवं कलाओं को साधना आवश्यक माना गया है। हमारे यहाँ विकास, उत्सव, समृद्धि, भोग एवं साधना के लिए किसी एक मत या सम्प्रदाय के आग्रह को कभी नहीं स्वीकारा गया। अत: प्राचीन काल से शास्त्र और लोक दोनों स्तरों पर विविधता को पारम्परिक प्रोत्साहन मिलता रहा है और युगानुकूल समन्वय भी होता रहा है। समन्वय का कोई अखिल भारतीय एकरूप मॉडल न कभी रहा है न ही आवश्यक माना गया है, चूँकि जैसा आनन्द कुमारस्वामी एवं जे.पी.एस. उबेरॉय आदि ने कहा है, भारतीय परम्परा में अनेक संरचनाओं के पीछे दृष्टिकोण, तत्त्वज्ञान एवं उद्देश्य करीब-करीब समानधर्मी (होमोलोगस) रहा है। महात्मा गांधी ने भारत या हिन्द के इस स्वरूप को ठीक से पहचाना और 'हिन्द स्वराज' में इसको अभिव्यक्त किया।

महात्मा गांधी का प्रशिक्षण उनके घर काम करने वाली दाई और उनके पड़ोसी, दुकानदार, परिवार के सदस्य, रायचन्द भाई के सानिध्य में शुरू और इंग्लैंड में पूरा हुआ। उन्होंने अंग्रेजों की सभ्यता को न सिर्फ पुस्तकों की मदद से जाना, बल्कि उपरोक्ष अनुभूति से भी जाना और महसूस किया। बाद में साउथ अफ्रीका में भी महात्मा गांधी ने पश्चिमी सभ्यता के सबल-दुर्बल पक्षों से सत्याग्रह के क्रम में प्रयोगात्मक संवाद बनाया। वे पश्चिम की आधुनिकता के समर्थन एवं विरोध करने वाले विमर्शों के भी सम्पर्क में आये और एक सनातनी हिन्दू के रूप में उन्होंने सब कुछ जाँचा-परखा। कई बार उनके मित्रों द्वारा उन्हें खुद को परिभाषित करने के लिए कहा गया। हर बार उन्होंने यही कहा कि वे सबसे पहले सनातनी हिन्दू हैं, उसके बाद एक भारतीय और अन्त में एक मनुष्य। जवाहरलाल नेहरू और सी.एफ. एंड्रूज जैसों को यह सदैव अटपटा लगा कि गांधीजी सबसे पहले मनुष्य, उसके बाद भारतीय और सबसे अन्त में सनातनी हिन्दू क्यों नहीं हैं? 1915 में भारत आने के बाद भी उनका ज्यादा समय आम आदमी के सम्पर्क में एवं भारत दर्शन में ही बीता।

उन्हें न तो ठीक से संस्कृत का ज्ञान था और न कभी अनुवादों के सहारे ही उन्होंने सनातनी शास्त्रों का व्यवस्थित अध्ययन किया, परन्तु वे लोगों में मौखिक रूप से बोली जाने वाली वाचिक परम्परा से अवश्य भली-भाँति परिचित थे। गांधीजी सनातन धर्म की संस्कृत आधारित शास्त्रीय परम्परा के न तो प्रवक्ता थे और न ही विरोधी। वे तो लोक भाषाओं, लोक-संस्कृतियों के आम स्त्री-पुरुषों, कृषकों-कारीगरों में लोकप्रिय सनातन धर्म, सनातन संस्कृति, शास्त्र, तकनीक, हुनर, कला एवं पद्धति के प्रवक्ता थे और आज भी भारतीय लोक परम्परा का उनसे ज्यादा समर्थ प्रवक्ता हमारे बीच नहीं हैं।

लोक परम्पराओं का शास्त्र

'हिन्द स्वराज' भारतीय संस्कृति की आत्मा ('स्व') को समकालीन परिस्थिति के शरीर (संरचना) में सम्प्रभु (राज करने वाली स्वायत्त शक्ति) के रूप में स्थापित करने का रणनीतिक सिद्धान्त है। भारतीय समाज में जिस तरह परम लघु मंत्र सारी समस्याओं का निदान माना जाता है, उसी प्रकार 'हिन्द स्वराज' में भारत की सारी समस्याओं का पारम्परिक इलाज है। मंत्र एक कूट अर्थात कोडेड शब्द है जिसका अर्थ है शक्ति या एनर्जी का सनातनी सिद्धान्त। जिस तरह 'शाबर' एक मंत्र है, उसी सनातनी अर्थ ने 'स्वराज' भी एक मंत्र है। भारतीय समाज की सुप्र कुंडलिनी को जगाने का मंत्र।

भारतीय सभ्यता सनातन परम्परा का एक ऐतिहासिक रूप है। विविधता इसका स्थायी स्वरूप या भाव है। यहाँ एकरूपता या एकरसता का भाव अस्वाभाविक, अप्राकृतिक एवं कृत्रिम माना जाता रहा है। भारतीय सभ्यता की व्याख्या या विश्लेषण के लिए कम-से-कम नौ प्रकार के दर्शनों (पूर्व मीमांसा, सांख्य, वैशेषिक, न्याय, योग एवं उत्तर मीमांसा (वेदांत) जैसे वैदिक, बौद्ध एवं जैन जैसे श्रमणिक एवं लोकायत जैसे प्राकृतिक अनुभववादी) की सहायता ली जाती रही है। मनुष्य, प्रकृति एवं ब्रह्माण्डीय शक्ति के लीलात्मक सम्बन्धों के शिवत्व, सत्य एवं सौन्दर्य की थाह पाने के लिए नौ प्रकार के भाव या रस (शान्त, करुण, वात्सल्य, श्रृंगार, वीर, रौद्र, अद्‌भुत, हास्य, वीभत्स) की अवधारणा विकसित की गई है। प्रकृति एवं संस्कृति के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों के विभिन्न सोपानों को ऋतु-चक्र परिवर्तन (वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमंत, पतझड़ (शिशिर)) को अभिव्यक्ति दी गई। मनुष्य के स्वभाव को समझने के लिए चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की अवधारण विकसित की गई। हर व्यक्ति के जीवन में चार पुरुषार्थों (धर्म,

अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति सहजता से हो सके, इसके लिए चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य या गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) की व्यवस्था की गई। चार आश्रमों के अन्तगर्त सोलह संस्कारों (गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णभेद, विद्यारंभ, उपनयन, वेदारंभ, केशान्त, समावर्तन, विवाह, अंत्येष्टि) की विधि विकसित की गई। जो लोग वैकल्पिक माध्यम से जीवन जीना चाहते हैं, उनके लिए श्रमण एवं प्राकृतिक अनुभववादी रास्ते सुलभ रहे हैं। तीनों रास्तों से वैवाहिक जीवन शुरू किया जा सकता है; अत: 8 प्रकार के विवाह (ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गंधर्व, राक्षस, पिशाच) की व्यवस्था की गई है। विवाह का मूल उद्देश्य सृजन (सन्तान प्राप्ति/सन्तानोप्राप्ति) एवं पितृऋण से छुटकारा पाना रहा है। भारतीय संस्कृति का केन्द्र सूर्य है। प्रकाश-पुंज सूर्य की किरणों में सात रंग (बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी, लाल) हैं। इन विविधताओं के बीच व्यवस्था की कम-से-कम चार वैकल्पिक (समानांतर) पद्धतियाँ फलती-फूलती रही हैं—सम्प्रदायों एवं पंथों की धार्मिक पद्धति, जातियों की सामाजिक पद्धति, कुटुम्बों की नातेदारी पद्धति एवं राज्यों की राजनीतिक पद्धति। ये चारों व्यवस्थाएँ एक-दूसरे के पूरक रही हैं। इनके अधिकार एवं कर्तव्य की सीमाएँ संस्थाबद्ध रहीं हैं।

भारतीय सभ्यता में विचारधारा के तार्किक आग्रह की तुलना में आस्था एवं आस्तिकता का महत्त्व ज्यादा रहा है। किसी एक लक्ष्य के लिए विविधता धारण करने वाले सम्प्रदायों, जातियों, समूहों में समन्वय स्थापित करने की कोशिश करने के बदले एक-दूसरे के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारते हुए, एक-दूसरे की समस्याओं को समझते हुए, सभ्यता-मूलक एकता को संवर्धित करने की ओर ज्यादा जोर रहा है।

भारतीय सभ्यता में एकात्मता की तुलना में तादात्मयता पर ज्यादा जोर रहा है। भूतकाल के वैभव की स्मृति के महत्त्व को स्वीकारने के बावजूद वर्तमान में आस्था रखना और वर्तमान में भविष्य केन्द्रित पुरुषार्थ करने पर ज्यादा जोर रहा है। सनातन जीवन दृष्टि एवं धर्म में सतत अध्ययन, मनन, चिन्तन, अभ्यास, अनुभूति, साधना, भक्ति एवं यज्ञ का महत्त्व वर्तमान में आस्था का अकाट्य प्रमाण है।

भारत के अन्तर्गत रह रहे करीब 80 करोड़ सनातन धर्म के विभिन्न रूपों

के अनुयायियों की अपनी-अपनी आस्थाएँ हैं। इन 80 करोड़ लोगों को किसी एक संगठन से जोड़ने का हर प्रयास अब तक असफल रहा है। भारतीय सभ्यता की विभिन्न इकाईयों में संस्कृति और सांस्कृतिक अवस्थाओं का स्वरूप तरल, लचीली, विस्तृत तथा गहरी अनुभूतियों के स्तर पर समझा एवं समझाया जाता रहा है। समझने एवं समझाने का सबसे प्रमुख माध्यम, किसी व्यक्ति के जीवन का जीता जागता उदाहरण रहा है। किताबी अवधारणाएँ या पुरातात्त्विक तत्त्व चिन्तन नहीं है। संस्कृति नदी के जल और उसके बहाव जैसी चीज मानी जाती है और अवधारणाएँ इस चीज की अभिव्यक्ति न होकर इसकी ओर संकेत करने वाले प्रतीक या इस नदी के जल के ऊपर चलने वाली नाव जैसी चीज मानी जाती रही हैं।

पश्चिमी मानस में रसे-बसे प्रशिक्षित विद्वानों एवं व्यक्तियों के लिए सनातन भारतीय सभ्यता एवं इसकी परम्पराओं को समझना सदैव काफी मुश्किल रहा है। उस वक्त भी था जब स्वामी रामकृष्ण परमहंस अपना प्रवचन कर रहे थे और उस वक्त भी जब महात्मा गांधी 'हिन्द स्वराज' लिख रहे थे। आज भी स्थिति करीब-करीब वैसी ही है।

एक व्यक्ति के रूप में संस्कृति को जीना एक बात है। हर प्रतिबद्धता के बावजूद एक व्यक्ति संस्कृति को उपभोक्ता के रूप में ही जीता है और संस्कृति के विभिन्न रूपों को एक स्वाभाविक स्थिति के रूप में ही स्वीकारता है। इस प्रक्रिया में एक निष्क्रियता है। आम आदमी मूलत: एक व्यक्ति के रूप में ही या एक परिवार के रूप में ही तात्कालिक परिस्थिति को स्वाभाविक स्थिति मानकर जीता है। लेकिन वह उसके बहुआयामी स्वरूपों, निहितार्थी, फलितार्थों को भी समझता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह काम विशेषज्ञों का है।

हर संस्कृति की अपनी समस्याएँ होती हैं और उन समस्याओं के समाधान के लिए हर संस्कृति के अपने विशेषज्ञ होते हैं, परन्तु विशेषज्ञों और गैर-विशेषज्ञों के बीच हर संस्कृति में एक जैसा सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए, भारतीय संस्कृति में पारम्परिक रूप से विशेष ज्ञान या विशेष अनुभव रखने वाले किसी भी व्यक्ति या परिवार को विशेषज्ञ कहा जाता रहा है, परन्तु पश्चिमी समाजों की तरह भारतीय समाज में विशेषज्ञों का कभी अलग वर्ग और गैर-विशेषज्ञों का कोई अलग वर्ग नहीं रहा है। हमारे यहाँ हर व्यक्ति,

परिवार, जाति एवं सम्प्रदाय का लक्ष्य किसी-न-किसी प्रकार की विशेष अनुभूति या विशेष ज्ञान का विशेष दक्षता (कुशलता) प्राप्त करना रहा है। इस प्रकार के विशेष ज्ञान, अनुभूति या दक्षता प्राप्ति के सामान्यता तीन स्रोत रहे हैं—(1) शास्त्रीय प्रशिक्षण, (2) लौकिक प्रशिक्षण और (3) व्यक्तिगत साधना, तपस और अभ्यास।

लेकिन सामान्यता एक ही परिवार में तीनों तरह से विशेषज्ञता प्राप्त की जाती रही है। इन्हें क्रमशः मार्ग कहा जाता है (ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग)।

उसी तरह हर राज्य, साम्राज्य एवं राजनीतिक व्यवस्था को बनाने, चलाने एवं विस्तारित करने के लिए अपने विशेषज्ञ होते हैं। करीब-करीब हर राज्य, साम्राज्य एवं व्यवस्था के विशेषज्ञों का धीरे-धीरे एक वर्ग (प्रभु वर्ग) बन जाता है जो आम आदमियों की तुलना में ज्यादा साधन एवं अधिकार सम्पन्न होते हैं। संस्कृति में एक प्रकार की लोकतांत्रिकता या सहभागिता होती है, जिसकी जगह राज्य इत्यादि में अधिकार-कर्तव्य में गैर-बराबरी किसी-न-किसी तरह आ ही जाती है। प्रभु वर्ग की विशेषज्ञता हर राज्य-व्यवस्था के लिए सामान्यतः आवश्यक समझी जाती है।

गुलामी के लम्बे दौर में भारतीय संस्कृति को तो आम आदमियों ने व्यक्ति, परिवार, जातियों एवं सम्प्रदायों के स्तर पर कुछ हद तक बचाये रखा, लेकिन इस संस्कृति के विशेषज्ञों और उनको पोषित करने वाली संस्थाओं को नहीं बचाया जा सका। उनके गुरुकुल नष्ट कर दिये गये। उनके विशेषज्ञों को या तो मार दिया गया या उनकी संस्थाएँ बर्बाद कर दी गई या उन्हें इतना लांछित किया गया कि उन लोगों ने अपने-आप धीरे-धीरे स्वधर्म निभाना छोड़ दिया। फिर उनको लोभ-लालच देकर दूसरे कामों में लगा दिया गया या भारतीय संस्कृति को विरूपित और विखंडित करके विधर्मी साम्राज्य को पोषित करने वाली गतिविधियाँ चलाने का 'प्रोजेक्ट' दे दिया गया। इस प्रोजेक्ट का दिशा-निर्देश, गति, निहितार्थ, फलितार्थ आदि साम्राज्य के विशेषज्ञों द्वारा पहले से तय कर दिये जाते थे। विधर्मी साम्राज्य बनते-बिगड़ते रहे। राज्य और इसके संसाधनों पर कब्जा करने के लिए केवल सैनिकों और सेनापतियों की आवश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि बुद्धिजीवियों और कलाकारों की भी आवश्यकता पड़ती है।

कोई भी साम्राज्यवादी सामान्यत: किसी देश पर विजय प्राप्त करने के उपरांत उस देश के निवासियों और उनकी संस्कृति को पूरी तरह नष्ट नहीं करना चाहता। हर साम्राज्य को अपनी सुविधा एवं अपने लाभ के लिए गुलाम चाहिए, कुशल कारिंदे चाहिए, देशी परिस्थितियों में साम्राज्य के अनुकूल इंफ्रास्ट्रक्चर एवं संस्थाएँ चाहिए। इनके विकास में बहुत समय, श्रम और साधन लगता है। अत: साम्राज्य के रणनीतिकार अक्सर देशी परिस्थिति को अनुकूल बनाना, उस देश की संस्थाओं एवं विशेषज्ञों को नष्ट करने से बेहतर मानते हैं और केवल अपनी प्रभुता बनाये रखना चाहते हैं। स्पेन वालों ने कोलम्बस द्वारा अमेरिका खोजने के बाद वहाँ के मूल निवासियों और वहाँ की संस्कृतियों के साथ जो किया वह एक तरह का अतिवाद था, जिसकी जड़े धर्मान्धता में थी, साम्राज्यवाद में नहीं। अधिकांश साम्राज्यवादी मूलत: दो काम करते हैं—

(1) उस देश के कानून को अपने देश के कानून के अनुकूल बनाते हैं।

(2) उस देश की व्यवस्था एवं सभ्यता-मूलक संस्थाओं को पोषित करने वाली, विशेषज्ञों को पैदा करने वाली शास्त्रीय प्रणाली को तोड़ देते हैं।

अन्य चीजों को नये साम्राज्य के फ्रेमवक से जोड़कर विरूपित कर दिया जाता है। इस दृष्टि से अंग्रेजों ने मैकॉले की शिक्षा नीति के तहत अपनी साम्राज्यवादी नीतियों को सूत्रबद्ध किया। इसके तहत भारत की शास्त्रीय प्रणाली को इसके जीवंत स्रोतों से काटकर सुखा दिया गया। देश की परम्पराओं, रीति-रिवाजों, कानूनों को अप्रासंगिक बना दिया गया और इनके स्थान पर अंग्रेजी साम्राज्य को पोषित करने वाले, तथाकथित आधुनिक कानून एवं आधुनिक शास्त्रीय प्रणालियाँ लाद दी गई। भारत के देशी विशेषज्ञों को संरक्षण एवं प्रोत्साहन देने के बजाय, उनके खिलाफ तरह-तरह के कुतर्क रचकर हर तरह की गड़बड़ी, कुरीतियाँ, असहिष्णुता एवं जलालत के लिए जिम्मेदार ठहराया गया और लांछित किया गया। दूसरी ओर, भारतीय परम्परा एवं शास्त्रीय प्रणाली के यूरोपीय विशेषज्ञ (इंडोलॉजिस्ट एवं ओरिएंटैलिस्ट) तैयार किये गये, जिन्होंने कुछ तो नासमझी बस और बहुत कुछ साम्राज्यवादी साजिश के तहत एक जीती-जागती सनातनी सभ्यता को एक ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक खिलौने की तरह पेश किया। अंग्रेजों द्वारा प्रायोजित एवं आधुनिक पश्चिमी दृष्टि से प्रस्तुत इस भारतीय सभ्यता की सुन्दरता और

सम्पूर्णता पर गर्व तो किया जा सकता था, परन्तु यह वर्तमान या भविष्य में एक स्वस्थ, समृद्ध एवं सन्तोषप्रद सामाजिक जीवन की आधारशिला नहीं बन सकती थी। अंग्रेजों के आने तक देश में जितने भी पारम्परिक शास्त्र एवं ग्रन्थ भोज-पत्र, ताड़-पत्र, ताम्र-पत्र या अन्य माध्यमों में सम्प्रेषित थे, उनका संग्रह एवं सम्पादन करने का साम्राज्यवाद उत्साह रंग लाया। आज जितने भी ग्रन्थ एवं शास्त्र पुस्तकालयों या बाजारों में मिलते हैं, उनके संस्करण या तो अंग्रेजी राज द्वारा तैयार कराये गये या अन्य यूरोपीय संस्थाओं द्वारा तैयार कराये गये हैं। उस वक्त के देशी रिसायतों द्वारा तैयार किये गये संस्करण भी यूरोपीय विद्वानों द्वारा या यूरोपीय मानकों पर यूरोपीय पद्धति द्वारा तैयार किये गये। फलस्वरूप, जब भारतीय लोगों में अपनी परम्पराओं को एवं शास्त्रीय पद्धतियों को जानने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी तो गैर-यूरोपीय स्त्रोतों का अकाल दिखने लगा।

परन्तु हमारे सौभाग्य से सनातन सभ्यता के भारतीय स्वरूप को गैर-यूरोपीय स्त्रोतों से समझना अब भी सम्भव है। शास्त्रीय परम्परा से हमारा जीवंत सम्बन्ध भले ही टूट गया है, परन्तु लोक परम्परा में जीवंत स्त्रोत अब भी बचे हुए हैं। सामी (सेमेटीक) परम्परा में दीक्षित होने के कारण अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने अंग्रेजी राज के दौरान लोक-परम्परा को निरीह और अशक्त समझकर अपने भरोसे जीने-मरने के लिए छोड़ दिया था। उन्होंने अपनी पृष्ठभूमि के कारण भारत की लोक-परम्परा की शक्ति को कम करके आंका। उन्हें केवल संस्कृत भाषा में लिखित और ब्राह्मणों द्वारा संरक्षित शास्त्री ज्ञान से खतरा लगा, जबकि वाचिक-परम्परा और लोक भाषाओं में उपस्थित लोक-शास्त्रों की वे ठीक से पहचान नहीं कर सके। उन्होंने दर्शन, गणित और धर्म-शास्त्रों को अपना निशाना बनाया, परन्तु साहित्य, कला एवं लोक में व्याप्त पारम्परिक ज्ञान-विज्ञान, तकनीक, विधियों एवं रीतियों को या तो समझ नहीं पाये या इनके निहितार्थ एवं फलितार्थों के महत्त्व का आकलन नहीं कर पाये। वे इन्हें मनोरंजन के साधन एवं कौतूहल की वस्तु मानते रहे। सामान्यत: इनके प्रति अंग्रेजों की नीति सामान्यत: उदासीनता की रही, परन्तु कई बार मनोरंजन के साधन एवं सांस्कृतिक विविधता के साधन के रूप में उन्होंने इनको प्रोत्साहन एवं संरक्षण भी दिया। वे समझ नहीं पाये कि पश्चिमी सामी सभ्यता के विपरीत भारतीय सभ्यता के केन्द्र में गणित,

यांत्रिकी एवं धर्म-शास्त्र की यूरोपीय अवधारणाओं से ज्यादा महत्त्वपूर्ण मिथक, साहित्य, कला एवं संगीत की गुणात्मक रूप से अलग, सनातनी अवधारणाएँ रही हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि महात्मा गांधी को प्रभावित करने वाले जॉन रस्किन मूलत: कला समीक्षक एवं कला-इतिहासकार थे और आनन्द कुमारस्वामी खुद ही कला समीक्षक एवं कला-इतिहासकार बन गये थे। भारत में विज्ञान एवं तकनीक की लोक-साधना कला के रूप में ही हुई है और संसार को लीला (नाटक) माना जाता रहा है। भारत में जब भी बड़ा सामाजिक परिवर्तन हुआ है तो उसका मानक एवं वाहक मिथकों एवं महाकाव्यों के रूपान्तरण को माध्यम बनाकर हुआ है।

हर व्यक्ति अपनी समझ से ही विरोधियों को झुकाता, तोड़ता या लाचार बनाता है। विरोधियों की समझ और सभ्यता को समझकर बहुत कम तोड़ता-फोड़ता है। विजेताओं के अहंकार से की गई हत्या सामान्यत: सम्पूर्ण सभ्यता की हत्या नहीं होती। ठीक उसी तरह लोक-साहित्य, लोक-कलाएँ, लोक के रीति-रिवाज, कहावतें, मुहावरों एवं लोक-धर्म की साम्प्रदायिक परम्पराएँ अंग्रेजी राज में भी अक्षुण्ण रह गईं। परम्पराओं को समझने का यह सूत्र भारत के आम जन को तो मालूम है ही चीन, रूस और यूरोप के गैर-आधुनिक मनीषियों को भी मालूम रहा है। उदाहरण के लिए रस्किन, टॉलस्टॉय, विलियम मॉरिस, रेने गुयेनो, लुई रेनेयू, जोसेफ कैम्पबेल, कार्ल जुंग, आनन्द कुमारस्वामी, मार्को पैलिस और कनफ्युशियस के समकालीन अनुयायियों जैसे माओत्से तुंग आदि लोगों को भी मालूम रहा है। गांधीजी के 'हिन्द स्वराज' के स्रोत की ऐसी ही लोक परम्पराएँ रही हैं। 'हिन्द स्वराज' का उद्देश्य देशी विशेषज्ञों की एक स्वराजी जमात पैदा करके सनातनी सभ्यता को पोषित करने वाली प्रणाली विकसित करना रहा है।

आज के भारत में उपरोक्त पारम्परिक अवधारणाओं, इसकी शब्दावलियों और इसके ऐतिहासिक रूपों को पुनर्जीवित करने की न तो कोई सम्भावना बची है और न इसकी कोई आवश्यकता ही है। समकालीन समस्याओं के समाधान के लिए की जाने वाली किसी भी गम्भीर और प्रतिबद्ध कोशिश में इनसे प्रेरणा अवश्य ली जा सकती है। इनका पुनर्नवीनीकरण (रिमेनीफेस्टेशन) तो अवश्य हो सकता है, लेकिन वह भी एक दिन में न कि एक साल में। इसमें समय लगता है, पीढ़ियाँ लगती हैं।

यह भारत का सौभाग्य है कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस, महात्मा गांधी, आनन्द कुमारस्वामी, डॉ. भीमराव अम्बेडकर आदि के प्रयासों से उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से इस पुनर्नवीनीकरण की प्रक्रिया चल पड़ी है। अब यह रंग लाने लगी है। सम्भव है कि पाँच-दस सालों में सनातन संस्कृति को पोषित करने वाली संस्थाएँ और इन संस्थाओं को पोषित करने वाले विशेषज्ञ सामने आये। 'हिन्द स्वराज' में महात्मा गांधी का उद्देश्य पारम्परिक मूल्यों, संस्थाओं और पद्धतियों को युगानुकूल भाषा में अभिव्यक्त कर इनके पुनर्नवीनीकरण की प्रक्रिया को सम्बल देना था।

'हिन्द स्वराज' लिखने के पीछे महात्मा गांधी का मूल उद्देश्य अंग्रेजी राज या आधुनिक व्यवस्था के भीतर ऐसी ही संस्थाओं और विशेषज्ञों के स्वाभाविक विकास के लिए सभ्यता-मूलक विमर्श का निर्माण करना था। आज भी सनातन जीवन मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध लोगों की दृष्टि से 'हिन्द स्वराज' ऐसी एकमात्र समकालीन पुस्तिका है, जिससे सम्प्रदाय निरपेक्ष, सभ्यता-मूलक विमर्श बनाने की प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है। इसे भारतीय संस्कृति के सम्प्रदाय निरपेक्ष सभ्यता-मूलक स्वरूप से परिचय कराने वाली प्रारम्भिक पुस्तिका के रूप में भी नयी पीढ़ी को दिया जा सकता है। एक भारतीय व्यक्ति को गांधीजी का 'हिन्द स्वराज' एक सनातनी व्यक्ति के रूप में अपने समय और समकालीन चुनौतियों का न सिर्फ सामना करने का आत्मबल देता है, बल्कि 'सत्यम, शिवम, सुन्दरम' को सफलता का मानदंड मानते हुए परम-वैभव की प्राप्ति के लिए प्रेरित भी करता है।

भारतीय परम्परा के समकालीन प्रवक्ता

'हिन्द स्वराज' में महात्मा गांधी ने समकालीन भारत की सनातन परम्परा को अभिव्यक्त किया है। सनातन परम्परा का विस्तृत परिचय माधवाचार्य की पुस्तक 'सर्वदर्शन संग्रह' या भरत सिंह उपाध्याय की पुस्तक 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' पढ़ने से हो सकता है। इस अध्याय को पढ़ते-पढ़ते भी इसकी कुछ झलक मिल जायेगी।

पारम्परिक (सनातन) जीवन दृष्टि के अनुसार इस सृष्टि में उपलब्ध हर अस्तित्ववान पदार्थ एक ही ब्रह्म का विस्तार है। पूरा का पूरा जगत् एवं संसार ब्रह्म के शरीर का विस्तार ही है। ब्रह्म की तरह यह जगत् और संसार भी शाश्वत और सनातन है। पूरब और पश्चिम की सभ्यता उसी शाश्वत संसार की अभिव्यक्ति है। जगत् प्रकृति अथवा 'नेचर' है, संसार संस्कृति अथवा 'कल्चर' है। इस दृष्टि से ईसा, मूसा और मुहम्मद उसी ब्रह्म की अभिव्यक्ति थे जैसे राम, कृष्ण और बुद्ध अभिव्यक्ति थे। साम्प्रदायिक भेद तो इन सबों में है या था, परन्तु तात्त्विक भेद तो नहीं है। सनातनी दृष्टि से पश्चिम को असत्य या अशिव तो नहीं कहा जा सकता है, केवल अधूरा कहा जा सकता है। समकालीन पश्चिमी समाज ईसाई, आधुनिक एवं उत्तर-आधुनिक के साथ-साथ पैगन के रूप में कई सम्प्रदायों में बँटा है और उसके पास सबों को समाहित करने वाली बहुसांस्कृतिक सभ्यता-मूलक दृष्टि नहीं है। साथ ही, पश्चिम खुद को पूरब के घोर विरोधी/दूसरे ध्रुव के रूप में परिभाषित करता रहा है, पूरक इकाई के रूप में नहीं। इस पारम्परिक दृष्टि से देखने पर गांधी और कुमारस्वामी अधूरे सनातनी तो कहे जा सकते हैं, चूँकि वे केवल ईसाई परम्परा को भारतीय, इस्लामिक या ग्रीक परम्परा के साथ समाहित कर पाते हैं, परन्तु इन्हें ईसाई कहना या अभारतीय कहना तो गलत होगा। भारतीय

सन्दर्भ में देखें तो अधिकांश ईसाई व मुसलमान भी सामान्यत: सनातनी जीवन जीते हैं, भले ही सनातनी जीवन-दृष्टि नहीं रखते। जबकि भारत के अन्य सम्प्रदाय अब भी सनातनी जीवन के साथ सनातनी दृष्टि भी रखते हैं। कुमारस्वामी एवं गांधीजी इस अर्थ में सनातनी दृष्टि वाले हैं। उन्हें लगता है कि एक ही सत्य की अभिव्यक्ति कई परम्पराओं में हुई है, परन्तु इनकी सीमा यह है कि ये लोग आधुनिक यूरोप को शैतान की रचना मानकर विरोध करते हैं। ये पारम्परिक और आधुनिक दृष्टि के बीच समन्वय नहीं कर पाते। यह एक प्रकार की ईसाई दृष्टि कही जा सकती है। यह दृष्टि एक प्रकार की असहिष्णुता का उदाहरण है कि सत्य केवल ईश्वर द्वारा चुने हुए आस्तिक (ईसाई) समुदाय के पास है। 'अधर्म' की अवधारणा और 'शैतान की रचना' दोनों अलग-अलग प्रकार की अवधारणाएँ हैं। अधर्म व्यक्ति करता है। सभ्यता अधार्मिक हो ही नहीं सकती। संसार शैतान का साम्राज्य हो ही नहीं सकता। रावण की लंका भी सेमेटिक अर्थों में शैतानी साम्राज्य नहीं था।

राम की अयोध्या और जनक की मिथिला और रावण की लंका में सम्प्रदाय भेद तो है, परन्तु तत्त्व भेद नहीं है। युद्ध अपने-आप में अधार्मिक नहीं होते। कुछ युद्ध अधार्मिक कारणों से लड़े जा सकते हैं, परन्तु युद्ध अपने-आप में ईश्वरीय लीला का ही अंग है। युद्ध भी संवाद का, समन्वय का एक ऐतिहासिक रूप रहा है। प्रारब्ध और कर्म के सिद्धान्त से युद्ध के आध्यात्मिक या दैवीय रूप को भी समझा जा सकता है।

अत: आधुनिक पश्चिम के सुप्त दैवीय उद्देश्यों / स्वरूपों को नहीं समझ पाना गांधी और कुमारस्वामी की सीमा तो है, परन्तु मात्र इसी कारण उन्हें अभारतीय तो नहीं कहा जा सकता। उसी तरह, ईसाई यूरोप को या बौद्ध श्रीलंका को सहज भाव से स्वीकार नहीं कर पाना विवेकानन्द की सीमा तो हो सकती है, परन्तु इसी आधार पर उन्हें आधुनिक यूरोप से जोड़कर अभारतीय तो नहीं कहा जा सकता। परम्परा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सम्पूर्णता में समझने का एक पैराडाइम (दृष्टि) है। भारतीय परम्परा सनातन धर्म के पैगन संस्करण का ही एक जीवंत रूप है। गांधी में पैगनिज्म का सुपरिचित उदाहरण देखा जा सकता है। रामकृष्ण में इसका ज्यादा सरल एवं पारम्परिक उदाहरण देखा जा सकता है। गांधी में निवृत्तिमार्ग है, व्यक्तिगत विमुक्ति के लिए एकल साधना है। रामकृष्ण में कुल मिलाकर प्रवृत्तिमार्ग है। सामूहिक विमुक्ति का मूलमंत्र है।

विवेकानन्द का दर्शन ऊपरी तौर पर आधुनिक उत्तर-आधुनिक किस्म का दर्शन है, जिसका आधार यह मान्यता है कि पुर्नजागरण एवं ज्ञानोदय के बाद यूरोप या पश्चिमी सभ्यता का मूलाधार मूलत: प्राचीन रोम एवं प्राचीन यूनान का पैगन धर्म है न कि मध्यकालीन यूरोप की ईसाई परम्परा। विवेकानन्दजी का दर्शन मूलत: आधुनिक विज्ञान, तकनीक एवं बाजार प्रेरित परिवर्तनों को स्वीकार करने का, इसको दैवीय योजना के अनुसार उत्पन्न उत्पाद के रूप में स्वीकार करने का नैतिक निर्णय है। यह इस विश्वास पर आधारित है कि "अन्तत: जो हो रहा है, वह ईश्वर की इच्छा से ही हो रहा है।" शैतान (डेविल) इतना शक्तिशाली नहीं हो सकता कि ईश्वर की इच्छा या डिजाइन या लीला को दैवीय उद्देश्यों से भटका दे। एक तो सामी (सेमेटिक) अर्थों वाला शैतान भारतीय दृष्टि में होता नहीं। भारत में अगर शैतान होता भी है तो वह ईश्वर की योजना का ही अंग होता है, सहायक होता है। शिव पुराण में भूत-प्रेत-राक्षस ईश्वर के विरोधी नहीं, भक्त हैं। वे भी दैवी शक्ति के ही रक्षक हैं। भूत-प्रेत-राक्षस भी दैवीय शक्ति से ही उत्पन्न होते हैं। वे भी ईश्वर की रचना हैं। उनके ही भक्त हैं। उनकी लीला के ही पात्र हैं। उनकी भूमिका भी इस लीला में सहयोग करने वाली है। जबकि पश्चिमी मान्यता के अनुसार ईश्वर और शैतान, दोनों का दो अलग-अलग स्वायत्त साम्राज्य होता है।

यहाँ हमें दो प्रकार के विमर्शों में अन्तर करना आवश्यक होगा। एक, सत्ता-मूलक विमर्श एवं दूसरा, सभ्यता-मूलक विमर्श। विष्णु सत्ता के प्रतीक पुरुष हैं। विष्णु पुराण राज्य-केन्द्रित विमर्श है। शिव पुराण सभ्यता-मूलक विमर्श है। महात्मा गांधी द्वारा रचित 'हिन्द स्वराज' तो सभ्यता-मूलक विमर्श है, लेकिन अपने अन्तिम अर्थों में स्वतंत्रता आन्दोलन के नायक के रूप में महात्मा गांधी का विमर्श राज्य-केन्द्रित विमर्श है। यह विमर्श भारत में अंग्रेजी राज और इससे जुड़ी प्रक्रियाओं को सम्बोधित था। यह राज्य के स्वरूप को रूपांतरित करने का प्रयास था। बहुत कुछ वैसा ही जैसा विश्वामित्र ने वैदिक युग में किया था। जिससे इन्द्र का सिंहासन डोलता था। इन्द्र राज्य के प्रतीक पुरुष हैं। इन्द्र वैदिक देवता हैं और वे कृत युग में देवताओं के राजा हैं। विष्णु मूलत: त्रेता और द्वापर के देवता हैं, वे राजा हैं, राज्य के प्रतीक पुरुष हैं और वे सत्ता के प्रतीक पुरुष हैं। कलियुग में वैष्णव धर्म का रूपान्तरण होता है। विष्णु एवं इनके अवतारों को प्रजातांत्रिक भक्ति का, लोक या सिविल सोसाइटी का,

प्रजा का प्रतीक पुरुष बनाया जाता है। विष्णु अवतार मूलत: राज्यमूलक होते हैं। महाभारत के कृष्ण (गीता के कृष्ण) राज्यमूलक विमर्श के प्रतीक पुरुष हैं, परन्तु 'श्रीमद्भागवत' के कृष्ण लोकमूलक हैं।

महात्मा गांधी ने गीता को अपनी प्रिय पुस्तक के रूप में अकारण वरण नहीं किया था। गीता भी मूलत: एक राज्यमूलक विमर्श ही है, जबकि बाइबल में वर्णित 'सर्मन ऑन द माउण्ट' लोकमूलक है। यह राज्यमूलक नहीं है, परन्तु पोप द्वारा मान्यता प्राप्त आधिकारिक 'बाइबल' या 'न्यू टेस्टामेंट' राज्यमूलक विमर्श बन गया है। लूथर का प्रोटेस्टैंट धर्म भी अन्तत: राज्यमूलक था। काल्विन का प्रोटेस्टैंट धर्म अवश्य लोकमूलक रहा है। काल्विन को इस अर्थ में आधुनिकता का मुख्य पुरोहित कह सकते हैं। विलियम जेम्स जैसे आधुनिकतावादी तो बहुत बाद में आते हैं। इसके विपरीत हीगल का दर्शन राज्यमूलक था। दार्शनिक के रूप में डेकार्ट, लॉक या कान्ट राज्यमूलक नहीं सभ्यता-मूलक थे या लोकमूलक थे। उत्कृष्ट साधना केवल लोकमूलक नहीं होती, राज्यमूलक भी हो सकती है। मार्क्सवादी भी गांधी की तरह राज्य-केन्द्रित विमर्श करते रहे हैं।

राज्य = सत्ता = सत्ता केन्द्रित।

मार्क्स के चिन्तन के केन्द्र में सत्ता है। गांधीजी के चिन्तन के केन्द्र में भी सत्ता = स्वराज है। राज और राज्य में संरचनात्मक अन्तर तो होता है पर तात्त्विक रूप से हैं तो दोनों सत्ताकामी ही। 'हिन्द स्वराज' के गांधीवादी विमर्श में ब्रिटिश राज की तुलना में आम भारतीयों के स्व (आत्मा) के राज का विमर्श है। नागरिकता का विमर्श राज्य-केन्द्रित भी हो सकता है और लोक केन्द्रित भी। सत्ता के केन्द्र का विकेन्द्रीकरण करने वाला विमर्श विकसित करना 'हिन्द स्वराज' का लक्ष्य था।

महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में सत्ता-मूलक एवं सभ्यता-मूलक दोनों प्रकार के विमर्शों का समन्वय देखा जा सकता है। गांधीजी में एक लोक या सभ्यता-मूलक पक्ष था, उसके प्रतिनिधि विनोबा थे। गांधी में एक राज्य या सत्ता पक्ष भी था, उसके प्रतिनिधि नेहरू और लोहिया थे। समकालीन सन्दर्भ में महात्मा गांधी एवं स्वामी विवेकानन्द के अनुयायियों के बीच आधुनिक पश्चिमी सभ्यता, खगोलीकरण एवं ईसाईयत के साथ हिन्दू समाज एवं संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में बौद्धिक विमर्श के दौरान

दुर्भाग्य से कटुता एवं असहजता लगातार बढ़ती जा रही है। इससे भारत के आम आदमी को काफी दुविधा झेलनी पड़ती है। उदाहरण के लिए पश्चिमी विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित कुछ भारतीय मूल के गांधीवादी विद्वान अमेरिका एवं बहुराष्ट्रीय निगमों को शैतानी शक्ति मानते हैं एवं पारम्परिक ईसाईयत को दैवीय शक्ति मानते हैं। मार्क्स एवं इजराइल को भी ये लोग शैतानी शक्ति मानते हैं। उनकी नजर में पूरी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता शैतानी शक्ति की उपज है। वे मानते हैं कि काला धन और भ्रष्टाचार कोई महत्त्वपूर्ण समस्या नहीं है और न इसको साधारणत: दूर ही किया जा सकता है। यह तो दूरगामी रूपान्तरण के बाद ही दूर किया जा सकता है, चूँकि यह सब पश्चिमी सभ्यता की नैसर्गिक उपज है। ये ईसाईयत को अच्छी शक्ति मानते हैं और आधुनिक पश्चिम को बुराई की शैतानी शक्ति मानते हैं। वे स्वामी विवेकानन्द को एवं भारतीय अभिजात्य वर्ग तथा आधुनिक भारतीय संस्कृति को पसन्द नहीं करते।

पश्चिमी विश्वविद्यालयों में एवं पश्चिमी समाज में ईसाई समूह काफी लम्बे समय से क्रियाशील रहे हैं। भले ही आज-कल पश्चिमी समाज में संगठित ईसाई धर्म कोई मजबूत शक्ति नहीं रह गया है, परन्तु वे पश्चिमी विश्वविद्यालयों की परिधि में अब भी काफी प्रभावशाली हैं। गांधीजी पर भी मत-आरोपण (ब्रेन वाशिंग) की कई कोशिशें हुई थीं। इसे स्वयं गांधीजी ने अपनी आत्मकथा एवं अन्य जगहों पर स्वीकारा है, परन्तु उपरोक्त गांधीवादी विद्वान अपने विचारों एवं विश्वासों के ईसाई स्रोत के बारे में सम्भवत: बहुत सचेत रहते हैं।

18वीं और 19वीं सदी तक आते-आते विश्वास और धर्म विधि से सम्बन्धित व्यवहार दोनों के स्तर पर, यूरोप का ईसाई धर्म, यूरोपीय लोगों की नज़र में इतना पतित हो चुका था कि कैथोलिक लोग इसको बौद्धिक रूप से तर्कसंगत साबित करने की स्थिति में नहीं रह गये थे। इसकी तुलना में कला के स्तर पर अनुकूल अभियान चलाया जा सकता था। फलस्वरूप कला को कैथोलिक ईसाई विद्वानों ने विशिष्ट प्रतीक कहना शुरू किया और प्रोटेस्टैंट लोगों ने विश्वास को केन्द्रीय मूलभाव (सेंट्रल मोटिफ) कहना शुरू किया। यहूदी मूल के विद्वानों ने धर्म विधि (रिचुअल) को केन्द्रीय कहना शुरू किया।

हर चीज के बावजूद कला कलाकार की व्यक्तिगत रचना होती है। कलाकार समाज का एक विशिष्ट भाग होता है और काफी हद तक समाज से कटा होता है। वह चेतन संरचना और धर्म आधारित संस्तरण को तर्कसंगत साबित करने के लिए बाध्य नहीं होता। वह सामाजिक अवधारणा, अपने युग के व्याकरण और भाषा की सीमा से अपेक्षाकृत स्वतंत्र होता है। बहुत कुछ स्वप्न की तरह। फलस्वरूप ईसाई मूल के विद्वानों को कला की दुनिया सुरक्षित स्वर्ग लगा, चूँकि तब तक फ्रायड, जुंग और लकान की कला के बारे में समालोचना लोकप्रिय नहीं हुई थी। यह आकस्मिक नहीं है कि गांधीजी के गुरु रस्किन तथा कुमारस्वामी के गुरु मौरिस दोनों कला इतिहास के विद्यार्थी थे। यह भी आकस्मिक नहीं है कि धीरे-धीरे कुमारस्वामी कला इतिहास को छोड़कर सैद्धान्तिकी (मेटाफिजिक्स) पर सकेन्द्रित होने लगे थे। धीरे-धीरे गांधीजी ने भी अपने को पुन: ढूँढ़ना शुरू कर दिया था। जैसे-जैसे कुमारस्वामी और गांधी को सनातन हिन्दू धर्म की गहराई समझने का अवसर मिला। वे लोग धीरे-धीरे यूरोपीय कला आन्दोलन के प्रभाव से दूर होते गये। यूरोप के प्रोटेस्टैंट लोगों ने तो सोलहवीं शताब्दी से ही विश्वास के स्तर पर कैथोलिकों से लड़ाई लड़ कर अपनी नयी पहचान खोजना शुरू कर दिया था। उन्नीसवीं शताब्दी आते-आते यहूदी पृष्ठभूमि के विद्वान लोग अपने अध्ययनों में कैथोलिक ईसाई धर्म विधि की खिल्ली उड़ाने लगे। यहूदी मूल के दुर्खीम ने जनजातीय और यहूदी धर्म विधि को अप्रत्यक्ष बौद्धिक समर्थन देने के लिए 'दि एलीमेंटरी फॉर्म ऑफ रिलिजियस लाइफ' लिखा। यह अन्तत: ईसाई धर्म के खिलाफ जाता है। आत्महत्या विषय पर लिखी उनकी दूसरी किताब भी अन्तत: ईसाई धर्म के विश्वास के खिलाफ जाती है। यहूदी पृष्ठभूमि के एक दूसरे विद्वान कार्ल मार्क्स, धार्मिक विश्वास को झूठी चेतना कह कर ईसाई पुनरुत्थान (प्रोटेस्टैंट) की हँसी उड़ाते हैं। इसी क्रम में, फ्रायड जैसे मनोविश्लेषणवादी रस्किन एवं मॉरिस जैसे ईसाई कला समीक्षकों के प्रभाव को अपने अध्ययनों के द्वारा खोखला कर देते हैं चार्ल्स डार्विन अपने उद्विकास वाले सिद्धान्त के जरिए ईसाईयों के बीच लोकप्रिय जेनेसिस की बाइबल वाली कहानी को काफी हद तक अप्रासंगिक बना देते हैं।

पश्चिमी आधुनिकता और इसकी उत्कट अभिव्यक्तियों (अमेरिकी सभ्यता एवं बहुराष्ट्रीय निगम) के बारे में यूरोप के कैथोलिक ईसाईयों की दृष्टि आज

भी ज्यादा नहीं बदली है। पश्चिमी आधुनिकता को आज भी ये लोग शैतानी शक्तियों की रचना मानते हैं इस दृष्टि के लोग आज भी अमेरिका को एक सभ्यता नहीं मानकर एक 'सेटलमेंट' कहते हैं। 'सेटलमेंट' (रिहायसी स्थान) की पारम्परिक (पैगन) सभ्यता को सभ्यता नहीं मानकर बर्बरता मानते हैं। दूसरा भाव यह है कि वे कोलम्बस द्वारा अमेरिका खोजे जाने के बाद पोप की प्रेरणा, सहमति एवं आज्ञा से स्पेन और पुर्तगाल के नेतृत्व में चलाये गये बर्बर साम्राज्यवादी अभियान को 'सभ्यता' फैलाने वाला अभियान मानते हैं और अमेरिकी भूमि को इस अभियान को चलाने वाले कैथोलिक ईसाईयों का रिहायसी स्थान मानते हैं। तीसरा भाव यह है कि यूरोप के कैथोलिक ईसाईयों के 'महान उद्देश्य' से किये गये भीषण एवं रक्तरंजित अभियानों के बावजूद अमेरिका को आज भी मध्यकालीन यूरोपीय मानदंडों पर सभ्यता नहीं बनाया जा सका है। यूरोप के विश्वविद्यालयों में अमेरिका को इसी तर्क के आधार पर सभ्यता नहीं मानने की प्रवृत्ति हावी रही है। देखा-देखी अन्य लोग भी इस कुतर्क को बिना सोचे-समझे मानने लगे हैं। भारत की शैक्षणिक संस्थाओं में भी मुख्य रूप से बाइबल का कैथोलिक दृष्टि से प्रभावित अनुवाद ही पढ़ा-पढ़ाया जाता है। विभिन्न प्रकार के प्रोटेस्टैंट सम्प्रदायों एवं इस्लाम और यहूदी दृष्टि वाला अनुवाद नहीं पढ़ा-पढ़ाया जाता। इस्लाम तथा यहूदी मत में बुराई की या नरकदूत (शैतान) की अवधारणा कैथोलिक अवधारणा से बहुत मामलों में समान होने पर भी कई विशिष्ट अर्थों में अलग रही है। इनके बीच साम्प्रदायिक गतिरोध एवं संघर्ष के कई कारणों में एक प्रमुख कारण यह अन्तर और इनका फलितार्थ भी रहा है।

स्वामी विवेकानन्द से लेकर रामस्वरूप तक अधिकांश समकालीन हिन्दू चिन्तक पुनर्जागरण (रेनेसाँ) एवं ज्ञानोदय (एनलाइटेन्मेंट) के बाद की आधुनिक यूरोप की सभ्यता से अपनापन महसूस करते हैं। इन लोगों को लगता है कि आधुनिक यूरोपीय सभ्यता का आधार मध्यकालीन यूरोप की ईसाई परम्पराएँ नहीं हैं, बल्कि प्राचीन यूनान एवं प्राचीन रोम की पैगन परम्पराएँ हैं। भारत की सनातन परम्पराओं एवं यूनान, रोम, मिस्र, चीन, बेबिलोन, पर्शिया (फारस) आदि की पैगन परम्पराओं में समानता एवं सहधर्मिता का तथ्य अब सामान्य रूप से पूरब एवं पश्चिम दोनों जगह के विद्वान स्वीकारने लगे हैं। इन विद्वानों की दृष्टि में पुनर्जागरण एवं ज्ञानोदय के बाद आधुनिक यूरोप

की ईसाई एवं गैर-ईसाई दोनों परम्पराओं में लगातार रूपान्तरण होता रहा है। इस रूपान्तरण की अभिव्यक्ति धर्म सुधार आन्दोलनों, औद्योगिक क्रांतियों एवं राजनीतिक क्रांतियों के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी स्तरों पर होता रहा है, परन्तु इसके सम्पूर्ण फलितार्थों को उत्तर-आधुनिक (1968 के बाद) युग से पहले पश्चिम के विद्वान स्वीकारने से बचते रहे हैं।

इसके विपरीत, स्वामी विवेकानन्द के समय से हिन्दू चिन्तकों ने आधुनिक सभ्यता के पैगन आधार एवं इससे उपजी बहुआयामी, विविध, बहुकेन्द्रित एवं विकेन्द्रित प्रवृत्तियों एवं जटिलताओं को काफी हद तक समझ लिया था। फलस्वरूप आधुनिक यूरोप के विज्ञान, तकनीक तथा आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाओं को वे सनातन भारतीय परम्पराओं, दर्शनों, आस्थाओं एवं संस्कृतियों के विकास के लिए अनुकूल मानते रहे हैं। विवेकानन्दवादी आधुनिक संस्कृति की रचना को शैतानों का कार्य नहीं मानते। कुछ विवेकानन्दवादी कहते हैं कि "टिकती वही चीज है जिसके पीछे साधना होती है। उदाहरण के लिए रामकृष्ण मिशन को देखिए। अरबिन्दो आश्रम को देखिए। इस्कॉन को देखिए। योगदा सत्संग को देखिए। दूसरी ओर, वर्धा और साबरमती के आश्रमों को देखिए। गांधी और विनोबा के मरते ही उनकी संस्थाओं का क्या हस्र हुआ! गांधीवादी आश्रमों की तुलना में सनातन हिन्दू साधना से जुड़ी संस्थाएँ लगातार बढ़ रही हैं। नयी पीढ़ी को भी आकर्षित कर रही हैं।" वे यह भी कहते हैं कि "यूरोपीय लोगों ने संस्कृत एवं भारतीय संस्कृति के संरक्षण के लिए जो किया है उसमें केवल निहित स्वार्थ भर नहीं था, श्रद्धा का भाव भी था वर्ना इतना स्तरीय काम इतने वर्षों तक कायम नहीं रह पाता। वे भी साधक लोग थे और हैं।"

भारतीय परम्परा के सनातन मूल्यों की जो बात विवेकानन्दवादी करते हैं वह तो प्रासंगिक है। भारतीय परम्परा की जो सनातन दृष्टि है वह आज भी प्रासंगिक है, परन्तु गांधीजी और उनके अनुयायियों की दृष्टि भी उतना ही भारतीय, उतना ही सनातनी और प्रासंगिक है। भारतीय परम्परा के स्वरूप एवं सनातनी 'मूल्य और दृष्टि' की पहचान को लेकर ही तो सारा झगड़ा है। आज 'मूल्य और दृष्टि' का प्रश्न और जटिल हो गया है। आज नयी सामग्री ढूँढ़ना उतना महत्त्वपूर्ण शोधकार्य नहीं है। जानी पहचानी स्थितियों तथ्यों

एवं उपलब्ध स्रोतों का भारतीय मानदंडों पर आधारित स्वतंत्र, विवेकजन्य समीक्षा एवं संशोधन करना सम्भवत: आज ज्यादा आवश्यक है। उदाहरण के लिए गांधी, नेहरू के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी तिलक, टैगोर एवं रामचन्द्र शुक्ल जैसों की पृष्ठभूमि, कार्य एवं विचार सारणी की समीक्षा के महत्त्व का काफी संशोधन कार्य हो सकता है। तभी हम लोग समकालीन भारतीय समाज के भीतर पारम्परिक स्वदेशी एवं आधुनिक वैश्वीकरण के समर्थकों के बीच बहुआयामी स्पर्धा एवं संघर्ष को सम्पूर्णता में समझ सकते हैं। पारम्परिक स्वदेशी के सबसे बड़े प्रवक्ता महात्मा गांधी माने जाते हैं तो आधुनिक वैश्वीकरण के सबसे समर्थ सिद्धान्तकार स्वामी विवेकानन्द माने जाते हैं, परन्तु उनके विचार में महत्त्वपूर्ण अन्तर होते हुए भी काफी कुछ साझा है। दरअसल दोनों के व्यक्तित्व पर समकालीन भारत की परिस्थितियों का प्रभाव था। वे अपने समकालीनों के साथ संवाद बनाने में भी लगे हुए थे। उस समय अपने युग के सनातन सत्य एवं भारतीय परम्परा को अभिव्यक्त करने का सांस्कृतिक अभियान चल रहा था। भारतीय दृष्टि से आधुनिकता और परम्परा पर विचार करते हुए गांधीजी और विवेकानन्दजी के विचारों की पूरकता स्पष्ट हो सकती है।

आधुनिकता की सबसे बड़ी विशेषता इसका खुलापन, इसकी तरलता है। आधुनिकता की खास बात इसका संस्थागत रूप से एक स्वतंत्र बाजार की तरह खुला होना और सार्वजनिक क्षेत्र में भी, आत्म सजग रूप से, सर्वसमावेशी होना है। तुलनात्मक रूप से, परम्पराएँ इतनी खुली नहीं होती। एक पारम्परिक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में खुला हो सकता है, परन्तु संस्थाओं के खुलेपन की अपनी सीमा होती है। खासकर समालोचन को पचाने के मामले में और बाहरी प्रभाव से निपटने के मामले में यह सीमा बहुत स्पष्ट दिखती है। यह सीमांकन केवल जाति के रूप में ही प्रभावी नहीं होता बल्कि सम्प्रदाय और घराना के रूप में भी प्रभावी होता है। आयुर्वेद जैसे विज्ञान के क्षेत्र में भी यह प्रभावी होता है। सूचनाओं का स्वतंत्र आदान-प्रदान परम्परा में सामान्यत: नहीं होता, परन्तु हो सकता है। इसे सैद्धान्तिक रूप से इनकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, आधुनिकता में भी सैद्धान्तिक खुलापन चाहे जितना हो, व्यावहारिक सुलभता नहीं होती है। सब कुछ मुफ्त में उपलब्ध नहीं होता। पेटेंट नियम होते हैं। कॉपीराइट होते हैं।

भाषा की सीमा होती है। एक खास भाषा में एक खास तरह से ही आधुनिकता अपनी सूचनाएँ बाँटा करती है।

परम्परा में भी यही होता है। परम्परा में भी पात्रता का सवाल न्यूनतम जरूरी योग्यता से ही सम्बन्धित होता है। फिर भी परम्परा में समुदायों को जैसी स्वायत्तता मिलती है, उसकी रक्षा के लिए समुदाय के सदस्यों को वैसी स्वतंत्रता नहीं दी जाती जैसी आधुनिकता में व्यक्तियों को दी जाती है। दूसरी ओर, आधुनिकता में केवल राज्य को स्वायत्तता प्राप्त होती है, समुदायों को नहीं। उत्तर-आधुनिकता में व्यक्ति एवं बाजार की स्वायत्तता सर्वोपरि होती है जबकि तुलनात्मक रूप से राज्य की स्वायत्तता खोखली हो जाती है।

भारतीय परम्परा में व्यक्ति को सांसारिक दृष्टि से उतनी स्वायत्तता प्राप्त नहीं है, जितनी आधुनिक व्यवस्थाओं में होती है, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्तिगत मुक्ति की बात बहुत सहजता से की जाती है। उदाहरण के लिए, रमण महर्षि आदि का मॉडल व्यक्तिगत मुक्ति वाला आध्यात्मिक मॉडल है। यह सामाजिक मुक्ति का व्यवस्थित मॉडल नहीं है। हिन्दुओं ने अब तक आत्म सजग रूप से व्यावहारिक स्तर पर क्रियाशील व्यवस्थागत विकल्प का मॉडल एक विस्तृत ब्लू प्रिंट के रूप में विकसित ही नहीं किया। अधिकांश आधुनिक हिन्दू चिन्तकों में इस मोर्चे पर एक आत्मचेतस रणनीतिक ढुलमुलपन (एबीग्युटी) दिखाई देता है। महात्मा गांधी का 'हिन्द स्वराज' शायद एकमात्र अपवाद है। अधिकांश आधुनिक हिन्दुओं में जो आत्मचेतस ढुलमुलपन दिखलायी देता है वह काफी हद तक लम्बी गुलामी के दौरान अपनी सांस्कृतिक पहचान कायम रखने एवं विपरीत परिस्थिति में अपने स्व की रक्षा करने की रणनीतिक व्यावहारिकता (प्रैगमेटिज्म) के तहत धीरे-धीरे विकसित होता गया। इस प्रवृत्ति को व्यक्तिगत रूप से बहुत लोग स्वीकारते हैं परन्तु इस पर व्यवस्थित विचार करने का सार्वजनिक प्रयास प्रचलित नहीं है। इस प्रवृत्ति को समझे बिना 'हिन्द स्वराज' का महत्त्व समझा ही नहीं जा सकता।

राजा राममोहन राय को आधुनिक भारत का निर्माता माना जाता है परन्तु उनका जोर भारतीय समाज को यूरोपीय मानदंडों पर आधुनिक बनाने पर ज्यादा था। फलस्वरूप, भारतीय परम्परा के प्रतिनिधि वे नहीं माने जाते। दूसरी ओर, स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायियों ने समकालीन भारतीय परम्परा के आधिकारिक प्रवक्ता होने का दावा किया था,

परन्तु स्वामी दयानन्द के अनुयायियों ने भारतीय परम्परा का कुछ इस तरह अनुवाद एवं भाष्य किया है कि आधुनिकता की विशेषताएँ व्यावहारिक स्तर पर पारम्परिक ग्रन्थों पर आरोपित हो गयी हैं। उदाहरण के लिए, एक बड़े आर्य समाजी लेखक ने ऋग्वेद का हिन्दी में अनुवाद किया है। उन्हें लगता है कि पश्चिम की जो अच्छी-अच्छी चीजें हैं, वह सब तो हमारी परम्परा में थी ही। यह प्रवृत्ति आर्य समाज के बाहर वाले आधुनिक हिन्दू चिन्तकों में भी स्थायी भाव ग्रहण करती जा रही है। इसकी प्रेरणा विलियम जोंस जैसे यूरोपीय विद्वानों के प्रभाव से फैला है।

करीब चौथी शताब्दी से यूरोपीय विद्वानों में ज्ञान का प्रामाणिक स्रोत किताब (टेक्स्ट) रहा है। आधुनिक युग में भी रेने डेकार्ट एवं इमैनुएल कैंट के प्रभाव में ज्यादातर यूरोपीय विद्वान यही मानते हैं कि किसी चीज के बारे में प्रामाणिक ज्ञान किताबी सिद्धान्त एवं बौद्धिक अवधारणाओं के आधार पर ही प्राप्त हो सकता है। विलियम जोंस के प्रभाव में जब भारत को समझने के लिए आधुनिक प्रयास इंडोलॉजी (भारत विद्या) के तहत विकसित हुआ तो यूरोपीय मानदंड पर भारत का प्रामाणिक ग्रन्थ या किताब (टेक्स्ट) खोजा जाने लगा। भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद, संशोधन, सम्पादन एवं मूल्यांकन का साम्राज्यवादी उपक्रम चलाया गया। इस उपक्रम के सिद्धान्त, मॉडल एवं मानदंड यूरोपीय परम्परा के आधार पर तय किया गया। भारतीय विद्वानों का काम बौद्धिक सहायकों जैसा था। वे लोग यूरोपीय विद्वानों के स्वामीभक्त अनुचर की तरह 'तथ्य संकलन', 'शाब्दिक अनुवाद' एवं यूरोपीय मानदंडों पर भारतीय शास्त्रों में 'प्रक्षेपित अंश' (अप्रामाणिक घुसपैठ) खोजते रहे और मूल्यांकन करने का काम यूरोपीय विद्वान करते रहे। बाद में इस तरह के 'आधिकारिक मूल्यांकन' के प्रचार, प्रसार एवं अनुकरण करने के लिए भारतीय विद्वानों को प्रायोजित अनुबन्ध दिया जाता रहा। अब तो इसी प्रकार के शोध को मौलिक एवं श्रेष्ठ माना जाता है। इसी प्रभाव के कारण आधुनिक हिन्दू चिन्तकों में साधारण जनता और उसके जीने के ढंग का खयाल नहीं रहा, अंग्रेजों द्वारा चुने हुए 'टेक्स्ट' का खयाल रहा।

एक स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में 'भगवद्गीता' भी अंग्रेजों के आने से पहले नहीं पढ़ी जाती थी। इसको इतना अधिक प्रतिष्ठित यूरोपीय विद्वानों ने ही किया है। पहले इसे या तो महाभारत के रूप में पढ़ा-सुना जाता था या दार्शनिक रूप

से ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों के साथ प्रस्थान त्रयी के रूप में पढ़ा जाता था। आम हिन्दुओं के बीच 'भगवद्गीता' साधारण लोगों द्वारा पढ़ने की चीज नहीं मानी जाती। साधारण लोग 'रामायण', 'महाभारत', 'पुराण' एवं 'भागवत' इत्यादि पढ़ते हैं। समाज में अभी भी कुछ ही लोग पारम्परिक शास्त्र, शिल्प या भारतीय गणित पढ़ते हैं, ज्यादातर लोग वाचिक परम्परा की दुनिया में ही रहते हैं। उनकी दुनिया गणित एवं व्याकरण से न तो बनती है और न चलती है। उनकी दुनिया में स्मृति, पुराण, लोककथा, महाकाव्य, मुहावरा, कहावत, लोकगीत एवं लोकसंगीत का प्रभाव गणित एवं व्याकरण से ज्यादा होता है, परन्तु आधुनिक विद्वान भारत को आम लोगों की नजर से देखना-समझना नहीं चाहते। वे लोग अपनी कृत्रिम दुनिया में रहते हैं। उनको इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता कि भारत के आम नर-नारियों का दूसरे मनुष्यों से, सृष्टि से या दूसरे जीवों से क्या रिश्ता है। उनके लिए पश्चिमी मानदंडों पर खरा उतरना अधिक आवश्यक है।

वास्तव में आम आदमी के जीवन में जाने-अनजाने कितना पश्चिमीकरण हुआ है, हुआ भी है या नहीं ऐसे सवालों पर सार्वजनिक जीवन में चर्चा सामान्यत: नहीं होती। जो लोग सार्वजनिक जीवन में हैं, उनमें अधिकांश लोगों को आम जनों की वास्तविक स्थिति के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है। जिन्हें जानकारी है वे सार्वजनिक जीवन के विमर्श में भाग नहीं लेते और आम लोगों के पक्ष का प्रतिनिधित्व करने नहीं आते। आधुनिक भारत के पढ़े-लिखे लोगों को लगता है कि हमारे देश के साधारण लोग तो आलसी हैं। अंग्रेजों ने जो-जो कहा और दोहराया कि तुम्हारे ग्रन्थों में ऐसा लिखा है, "यह पढ़े-लिखे भारतीय लोगों के मन में बस गया है। जैसे अंग्रेजों ने जानबूझकर यह मिथक गढ़ा कि हजारों बरस से हमारे यहाँ दरिद्रता है और यहाँ बरसों से छूआछूत कायम है। ऐसी मान्यताओं का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। ऐसे मिथक अंग्रेजों के द्वारा अपने राज को वैधता देने के लिए शोध के नाम पर गढ़े गये, मानसिक रूप पर गढ़े गये, परन्तु मानसिक रूप से गुलाम भारतीयों ने इसको बिना परीक्षा किये स्वीकार लिया। कोई नहीं पूछता कि बतलाओ तो सही कि इन तथाकथित ऐतिहासिक तथ्यों का आधार कहाँ है? पूछने पर कुछ कुतर्की कहते हैं कि 'मनुस्मृति' में या कहीं और है। असल में 'मनुस्मृति' में क्या है यह नहीं कहते, यह भी नहीं कहते कि मनुस्मृति कब लिखी गई थी?

'मनुस्मृति' के अलावा और कितनी स्मृतियाँ हैं? इन स्मृतियों का आपस में क्या सम्बन्ध है? इन स्मृतियों का अपने युग के समाज से कैसा सम्बन्ध था? क्या भारतीय समाज में व्यक्ति एवं समुदाय का जीवन स्मृतियों से उसी तरह नियंत्रित होता था, जिस तरह सेमेटिक जाति के धार्मिक समुदायों में पवित्र ग्रन्थों के आधार पर होता है? ऐसे प्रश्नों को दरकिनार करना आजकल भारत में बौद्धिक फैशन बन गया है। लेकिन इस बौद्धिक फैशन के निर्माण में साम्राज्यवादियों ने बहुत मेहनत की थी।"

राबर्ट क्लाइव के जमाने से भारतीयों के स्वभाव के बारे में अंग्रेजों ने बहुत जानकारी एकत्र की। धीरे-धीरे वे समझ गये कि भारतीयों को कुछ भी तय करने में बहुत देर लगती है। भारतीय लोग स्वभाव से योजनाबद्ध नहीं होते। विरोधियों द्वारा कुछ भी अचानक कर देने पर भारतीय लोग सामान्यत: लड़खड़ा जाते हैं। हिन्दुस्तानी लोग हवा का रुख देखकर अपनी रणनीति बदल लेते हैं। अगर परिस्थिति बदली तो भारत के पढ़े-लिखे लोग बड़ी आसानी से बदल जाते हैं। मध्यकाल में पढ़ा-लिखा समाज बड़ी आसानी से अरबी-फारसी में सूफियों की भाषा एवं इस्लाम की प्रगतिशीलता के गीत गाने लगा था। फलस्वरूप अंग्रेजी राज में भी ब्रिटिश राज की बरकत, ईसाई धर्म की प्रगतिशीलता, पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान एवं पश्चिमी विद्वानों द्वारा भारतीय समाज के बारे में तैयार उपनिवेशवादी विमर्श की प्रासंगिकता के गीत गाने वाले भारतीयों की कमी नहीं रही। भारतीय समाज एवं संस्कृति की अंग्रेजों की देखा-देखी कठोर आलोचना करना अधिकांश पढ़े-लिखे भारतीयों के बीच लोकप्रिय शगल बन गया। फलस्वरूप जब महात्मा गांधी ने 'हिन्द स्वराज' लिखा तो भारत के पढ़े-लिखे लोगों में से अधिकांश लोगों को यह पुस्तक और अंग्रेजी राज तथा आधुनिक सभ्यता की महात्मा गांधी द्वारा की गई आलोचना अच्छी नहीं लगी।

ठीक इसी प्रकार, जब अपने ऐतिहासिक शोध के आधार पर धर्मपाल ने अंग्रेजों के आने से पहले भारत की आर्थिक खुशहाली, तकनीकी श्रेष्ठता एवं शैक्षणित प्रगति के बारे में तुलनात्मक आँकड़ा प्रस्तुत किया तो सहसा पढ़े-लिखे लोगों को विश्वास नहीं हुआ। जब यह बतलाया गया कि यह सब एडम्स रिपोर्ट में भी वर्णित है तब भी लोगों ने इस पर बहुत ध्यान नहीं दिया, चूँकि हम 'टेक्स्ट' के चक्कर में पड़ गये। एडम्स रिपोर्ट, महात्मा गांधी या

धर्मपाल अपने क्षेत्रीय सर्वेक्षण, सामाजिक अनुभूति या संग्रहालय के आँकड़ों के आधार पर जो कहते हैं, उसको पढ़े-लिखे लोग वह महत्त्व नहीं देना चाहते जो पश्चिमी विद्वानों द्वारा स्थापित मानदंडों पर भारत को समझने के लिए औपनिवेशिक विद्वानों द्वारा सम्पादित एवं संशोधित 'मनुस्मृति' या 'गीता' के शंकर भाष्य या ऋग्वेद के पुरुष सूक्त जैसे 'टेक्स्टस' (आकर ग्रन्थों) को देते हैं। फलस्वरूप, व्यावहारिक स्तर पर सदियों से प्रचलित परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों को आधुनिक विद्वान प्रमाण नहीं मानते। उदाहरण के लिए, भारत में विवाह एवं तलाक के बारे में इंडोलॉजी से प्रभावित अध्ययनों में तलाक की चर्चा कबिलाई या इस्लामी संस्था के रूप में की जाती है, जबकि हिन्दू समाज की विभिन्न जातियों में बड़ी संख्या में तलाक आदि हजारों वर्ष से प्रचलन में है। जो लोग उन समूहों में रहते हैं, उन्हें यह सब मालूम है। लेकिन यह किसी 'टेक्स्ट बुक' में नहीं है। अगर इसे 'टेक्स्ट बुक' के सहारे हम समझने की कोशिश करें तो मुश्किल होगा। अपने व्यावहारिक रूप में भारतीय समाज कैसे चलता है, इससे हमारे ख्याति प्राप्त विद्वानों का अब तक ठीक से परिचय नहीं हुआ है।

उदाहरण के लिए, अधिकांश आधुनिक विद्वानों ने हिन्दू महापुरुषों के आदर्श एवं व्यवहार में असंगति की ओर इशारा किया है। महात्मा गांधी ने तो साफ-साफ कहा है, "अलग-अलग समय में एक ही विषय पर उनके विचार बदलते रहे हैं, चूँकि उनका लगातार उद्विकास होता रहा है, उनकी अनुभूतियाँ विस्तृत एवं गहरी होती रही हैं। फलस्वरूप, वे अपील करते हैं कि जब भी किसी पाठक को एक ही विषय पर उनके दो विचार देखने को मिलें तो उनके बाद वाले विचार को ज्यादा तरजीह दी जाये।" महात्मा गांधी के उपरोक्त मत की सांस्कृतिक गहराई समझने की बहुत कम कोशिश हुई है। महात्मा गांधी ने सांकेतिक रूप से इसमें सनातन हिन्दू धर्म की एक प्रमुख प्रवृत्ति से खुद को जोड़ा है। जो लोग सनातन धर्म के गहरे जानकार हैं, उनके लिए इसका महत्त्व स्वयं सिद्ध है, परन्तु अधिकांश आधुनिक विद्वानों को गांधीजी का यह आग्रह अटपटा लगता है। गांधीजी को ठीक से समझने के लिए सनातन धर्म की इस प्रवृत्ति को समझना आवश्यक है।

राम और कृष्ण के जमाने से हिन्दू लोग सिद्धान्त, नीति या मतवाद के नाम पर बेवजह अडियल-अव्यावहारिक रुख अपनाने से बचते रहे हैं।

उदाहरण के लिए भगवान राम ने खुद बालि को मारने, समुद्र को पार करने एवं मेघनाद की लक्ष्मण द्वारा हत्या करवाने जैसे प्रकरणों में एक प्रकार की सांसारिक युक्ति का सहारा लिया था। उसी तरह भगवान कृष्ण ने जरासंध द्वारा मथुरा पर आक्रमण करने के बाद उससे लोहा लेने की तुलना में रणछोर कहलाना ज्यादा उचित समझा एवं भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्य, जयद्रथ, कर्ण, जरासंध एवं दुर्योधन की पाण्डवों द्वारा हत्या करवाने में शुष्क नीति या सिद्धान्त पर अड़ने की तुलना में व्यावहारिक लचीलापन एवं युक्ति अपनायी।

महात्मा गांधी भी इसके अपवाद नहीं थे। उन्होंने कई बार (साउथ अफ्रीका में भी और भारत में भी) सांसारिक युक्ति को अपने नीति-सिद्धान्तों के ऊपर वरीयता दी। साथ ही अपनी सनातनी आस्थाओं एवं सिद्धान्तों को बौद्धिक रूप से आकर्षक एवं युगानुकूल ठहराने के लिए एवं आधुनिक पश्चिम के मानदंडों पर वैधता प्राप्त करने के लिए उन्होंने रस्किन, थोरो, टॉलस्टॉय एवं कारपेंटर जैसे विद्वानों को अपना गुरु तथा प्रेरणास्त्रोत बताया। लेकिन पश्चिम के इन परम्परावादी ईसाई तत्त्वचिन्तकों जैसी सुसंगत वैचारिक प्रतिबद्धता एवं मतवाद गांधीजी में खोजने से भी नहीं मिलता। वे अपने व्यवहारों को सिद्धान्त या मत के आधार पर नियंत्रित नहीं करते थे। उनके व्यवहारों को समझने का सूत्र उनकी तात्कालिक प्रेरणा/मनोवेग (मोटिव) और लक्ष्य की पूर्ति के लिए सबसे उपयुक्त युक्ति के बारे में उनकी तात्कालिक समझ एवं उनकी सनातनी आस्थाओं में खोजा जा सकता है, परन्तु उन्हें अवसरवादी या समझौता परस्त नहीं कहा जा सकता। अवसरवादी या समझौता परस्त लोग कहीं-न-कहीं अपने प्रतिद्वंद्वी से या विपरीत परिस्थितियों से डरकर एक प्रकार के दबाव में समझौता या गठबन्धन करते हैं। दूसरी ओर, सनातनी व्यावहारिकतावादी अभय (निर्भय) अवस्था में स्वेच्छा से अपने स्वविवेक के आधार पर बदलती हुई परिस्थितियों का सतत मूल्यांकन करते रहते हैं। इसी बदलते हुए स्वैच्छिक मूल्यांकन के आधार पर वे स्वविवेक से सांसारिक युक्ति का उपयोग करते हैं। यह सनातन संस्कृति की पारिभाषिक विशेषता है। इसमें नियमित के आगे समर्पण और कर्म के सिद्धान्त को मानने का भाव भी अन्तर्निहित है।

परन्तु 1814 के आस-पास राजा राममहोन राय के नेतृत्व में एक प्रकार की अवसरवादी या समझौता परस्त व्यावहारिकता की वकालत भी भारत में की जाने लगी। अंग्रेजों के मिथक, मानदंड एवं प्रारूप के आधार पर

भारतीय समाज एवं संस्कृति का समझने, सुधारने एवं विकसित करने का 'महान कर्म' पढ़े-लिखे भारतीयों का सामाजिक पुरुषार्थ बनने लगा तथा एक नये प्रकार का वैचारिक एवं तात्त्विक ढुलमुलपन पढ़े-लिखे भारतीयों में लोकप्रिय होने लगा। इस नयी प्रवृत्ति का विकास आधुनिक यूरोप के ज्ञानोदय (एनलाइटेन्मेंट) एवं ब्रिटिश साम्राज्य की भारतीय नीतियों से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होने के बावजूद तत्कालीन भारत के वैचारिक संघर्षों से भी कहीं न कहीं जुड़ा हुआ था।

मध्यकालीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास में हिन्दू समाज के सामने तुलसीदास ने पारम्परिक दृष्टिकोण का एक पक्ष प्रस्तुत किया। उनसे पहले कबीरदास एक दूसरा पक्ष प्रस्तुत कर चुके थे। तुलसीदास के बाद समर्थ रामदास ने एक तीसरा पक्ष प्रस्तुत किया। तीनों पक्षों को विस्तार से समझने के लिए कई स्त्रोतों से तथ्य संग्रह करना पड़ेगा और भारतीय विश्वविद्यालयों में आजकल प्रचलित मानदंडों का अतिक्रमण करना पड़ेगा। संक्षेप में, कबीरदास निर्गुण भक्ति एवं निवृत्ति मार्ग के प्रवक्ता थे। तुलसीदास सगुण भक्ति एवं प्रवृत्तिमार्ग के प्रवक्ता थे। समर्थ रामदास ने दोनों प्रकार की भक्ति एवं दोनों प्रकार के मार्ग का समन्वय करने का प्रयास किया था। तुलसीदास की परम्परा के सबसे प्रमुख व्याख्याकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल माने जाते हैं। कबीर की परम्परा से महात्मा गांधी और बाबा साहब अम्बेडकर दोनों ने प्रेरणा ग्रहण किया। समर्थ रामदास की परम्परा शिवाजी महाराज से शुरू होकर राणाडे, सावरकर, मुंजे और मालवीय तक सीमित नहीं थी बल्कि यह कहीं-न-कहीं बंगाल नवजागरण के अधिकांश हिन्दू चिन्तकों को भी प्रेरित करती रही। उदाहरण के लिए कांग्रेस के सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे कुछ मशहूर नरमपंथी नेता अंग्रेजी राज के बरकत के गीत गाते-गाते स्वदेशी आन्दोलन के दौरान मैनचेस्टर के कपड़े और लिवरपूल के नमक का बहिष्कार करने का आग्रह करने लगे। उन्होंने कुछ अधिक संकोच के साथ ही सही, राष्ट्रीय शिक्षा के आन्दोलन में भी भाग लिया। आम हिन्दुओं को आकृष्ट करने के उद्देश्य से विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार आन्दोलन को धार्मिक रंग देने के प्रयत्नों को भी नरमपंथी नेताओं का समर्थन मिला। बाद में मगरा के मन्दिर के प्रांगण में भाषण देते हुए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने तो यहाँ तक दावा किया कि स्वदेशी धार्मिक प्रतिज्ञा की पूरी कल्पना उन्हीं की देन थी। कुछ बड़े से बड़े

नरमपंथी नेताओं ने युवा आतंकवादियों के प्रथम दल को चोरी-छिपे आर्थिक सहायता और अपना आशीर्वाद भी दिया था।

समकालीन हिन्दुओं में पाया जाने वाला रणनीतिक व्यावहारिकता का पहला सैद्धान्तिक आधार सम्भवत: समर्थ रामदास ने विकसित किया था। समर्थ रामदास ने एक ओर तो दासबोध नामक अपने ग्रन्थ में बार-बार मूर्तिपूजा का निषेध किया है, वह भी काफी कठोर शब्दों में। दूसरी ओर भक्ति मार्ग के तहत मूर्तिपूजा से ईश्वर साक्षात्कार करके द्वैत से अद्वैतानुभव की मुक्ति भी बतलाई। एक ओर वे ब्रह्म को सत्य एवं जगत् को मिथ्या कहते हैं तो दूसरी ओर वे यह कहते हैं कि चरम सत्य विश्व में भी व्याप्त है। वे राम से रहित विश्व को असत्य तथा राम से युक्त विश्व को सत्य मानते हैं। वे साधक को यह छूट देते हैं कि वह अपनी रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुसार साधना मार्ग का चयन करे। वे बहुत दृढ़ता से कहते हैं कि परमात्मा को प्राप्त करने का मार्ग साधक के हाथ में ही है। यदि साधक की साधना में गहराई है तो भव सागर को लाँघने के लिए माया नौका बन जाती है। मनुष्य-मात्र का उद्धार माया की सहायता लिए बिना हो ही नहीं सकता। ज्ञान मुक्ति का प्रमुख साधन है, किन्तु स्वयं ज्ञान विद्यामाया का ही एक उत्कट आविष्कार है। पाँच भौतिक तत्त्वों का जो विकास विश्व में दिखाई देता है, वह वस्तुत: माया का ही विकास है। अध्यात्म का अर्थ ही है माया तथा ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान। बिना साधना के सामान्यत: ब्रह्म ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता और सद्गुरु की कृपा से अगर वह प्राप्त हो भी गया तो भी उसे बनाये रखने की दृष्टि से साधना आवश्यक है। साधना में परिपूर्णता लाने के लिए भक्ति की आवश्यकता है। समर्थ रामदास खुद मूर्तिपूजक थे और उन्होंने दूसरों को भी मूर्ति-पूजा करना सिखाया। एक विकट एवं विपरीत समय से उन्होंने नवीन देवालयों के निर्माण एवं मूर्ति-स्थापना को उत्सव के रूप में शुरू किया। उन्होंने देवालयों के गर्भगृह में राम, सीता व लक्ष्मण की मूर्तियों को स्थापित किया, परन्तु हनुमान की मूर्ति गर्भगृह में स्थापित न करके मन्दिरों के बाहर कहीं भी स्थापित करने की एक नयी परम्परा शुरू की और इस प्रकार उन्होंने गर्भगृह की अवधारणा ही बदल दी। उन्होंने यह भी स्थापित किया कि राम की भक्ति करना या राम के दास की भक्ति करना दोनों का फल ब्रह्म-साक्षात्कार जैसा है।

उन्होंने ग्यारह मारुति की स्थापना का उत्सव शुरू किया। उन्होंने ग्यारह सौ मठों में प्रशिक्षित महंतों को स्थापित किया और उन्हें व्यक्तिगत मोक्ष के बदले सामाजिक मुक्ति का पुरुषार्थ करना सिखलाया। इन्हीं मठों और महंतों ने उनके शिष्य शिवाजी महाराज के राजनीतिक अभियानों को सम्बल दिया। उनकी मान्यता थी कि जब तक स्वराज व तदंतर सुराज्य स्थापित नहीं हो जाता, तब तक नैतिक और परमार्थिक शिक्षा देना सुगम नहीं होगा। मध्यकालीन दुर्दशा के लिए वे विदेशी आक्रांताओं की तुलना में इस देश के निवासियों खासकर क्षत्रियों के तेज नष्ट होने एवं ब्राह्मणों के अशास्त्रीय ढोंग के बढ़ने की स्थिति को जिम्मेदार मानते थे। शत्रु से लड़ने के लिए गुप्त रीति से तैयारी करने एवं शत्रु की कमजोरी से फायदा उठाते हुए 'गुरिल्ला युद्ध' जारी रखने के वे कुशल रणनीतिकार थे। वे शास्त्र और शस्त्र के अधिकारी आचार्य थे। उन्होंने एक तो सनातनी परम्परा में रूढ़ हो चुके 'गर्भगृह' की अवधारणा में गुणात्मक रूपान्तरण किया, तो दूसरी ओर, अपनी महान कृति 'दासबोध में भक्ति', 'पुरुषार्थ', 'नियति और कर्म' जैसी सनातनी अवधारणाओं को युगानुकूल स्वरूप प्रदान किया। वे निम्नलिखित क्षेत्रों में समन्वय का प्रयास कर रहे थे—

1. गृर्हस्थ्य और परमार्थ, 2. सगुण और निर्गुण, 3. कर्म, भक्ति और ज्ञान, 4. धर्म और राजनीति, 5. विविध धार्मिक सम्प्रदायों की सनातनी धाराएँ, 6. जगत् की सत्यता और असत्यता, 7. भाग्य और पुरुषार्थ, 8. वैयक्तिक उन्नति और सामाजिक उन्नति, 9. विवेक और वैराग्य, 10. उक्ति और कृति 11. ग्रांथिक ज्ञान और प्रत्यक्ष अनुभव, 12. प्रादेशिक भाषाएँ, देवनागरी भाषा और संस्कृत, 13. द्वैत और अद्वैत, 14. विभिन्न काव्यशैलियों में अभिव्यक्त सनातनी परम्पराएँ। इसका पहला राजनीतिक उपयोग शिवाजी महाराज ने किया था, परन्तु उसके बाद यह आधुनिक हिन्दू चिन्तकों के सामान्य लक्षण के रूप में फैलता चला गया।

धीरे-धीरे यह भाव हिन्दू मान्यता में विकसित हुआ कि मनुष्य के बनाये सिद्धान्त पर अड़ना अथवा लकीर का फकीर होना एक प्रकार का अहंकार है जबकि नियति की इच्छा के आगे झुकना या लचीला रुख अपनाना सांसारिक युक्ति है। सोच-समझ कर या राय-मशविरा करके बनाये गये सामाजिक सिद्धान्तों एवं सांस्कृतिक आदर्शों का सामान्य स्थिति में महत्त्व एक हद तक

तो स्वीकारा जाता है लेकिन विशेष, विषम एवं विकट परिस्थितियों में हर व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा की आवाज या ईश्वरीय प्रेरणा के आधार पर निर्णय लेता है अथवा बलिदान देता है। बिना अन्तरात्मा की स्वीकृति पाये या ईश्वर द्वारा बिना व्यक्तिगत निर्देश पाये केवल सामाजिक आदर्शों एवं सिद्धान्तों पर टिके रहने का उदाहरण हिन्दुओं में कम ही पाया जाता है। किसी राजा या महापुरुष के मत बदल जाने के बावजूद उनकी प्रजा या उनके अनुयायी हिन्दू समाज में सामान्यता नहीं बदलते। वे अपने पारम्परिक रीति-रिवाजों पर, अपनी व्यक्तिगत आस्था पर एवं व्यक्तिगत सूझ-बूझ पर बने रहते हैं। पश्चिमी समाज एवं सेमेटिक धर्मों में राजा, धर्म गुरु, महापुरुष एवं शास्त्रीय धर्म ग्रन्थों पर जैसी आस्था, विश्वास, बलिदान करने की तत्परता, उत्साह एवं सामूहिकता ऐतिहासिक रूप से देखने को मिलती है। वह हिन्दू समाज में सामान्यत: नहीं मिलती।

भारत के किसी धर्म गुरु, महापुरुष या राजा को कभी यह उम्मीद नहीं रहती कि उनकी समझ, साधना या दावे को बिना व्यक्तिगत रूप से परीक्षा किये या बिना व्यक्तिगत रूप से अन्तरात्मा को साक्षी पाये आम जन, प्रजा या अनुयायी सामूहिक अभियान का आधार बनायेंगे। फलस्वरूप समाजसुधार, धर्मसुधार, धर्मपरिवर्तन या सांस्कृतिक पुनर्निमाण की प्रक्रिया भारत में सिद्धान्तों, विचारधाराओं या दर्शन प्रणालियों के आधार पर नहीं चलती। किसी व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी विचारधारा या सिद्धान्त के आधार पर सामान्यत: नहीं किया जाता। एक सीमा से ज्यादा सिद्धान्तों का महत्त्व नहीं माना जाता। व्यावहारिक आदर्श के पालन में एक प्रकार का लचीलापन पाया जाता है जिसका आधार हर व्यक्ति की अपनी समझ, आत्मानुभूति एवं ब्रह्मानुभूति तथा समय-समय पर मिलने वाली अन्तरात्मा की आवाज होती है।

यह लचीलापन विश्वामित्र, राम, कृष्ण एवं बुद्ध जैसे महापुरुषों में भी देखा जा सकता है। दूसरी ओर हरिश्चन्द्र एवं भीष्म पितामह की सिद्धान्तवादिता एवं कठोर प्रतिज्ञा पर विपरीत परिस्थिति में भी कायम रहना एक प्रकार का अपवाद माना जा सकता है। सामान्यत: यह माना जाता है कि भाग्य का सम्बन्ध तो कर्मफल से है एवं अकर्म का फल नहीं होता। जबकि नियति का सम्बन्ध ईश्वर की इच्छा से है। फलस्वरूप विपरीत परिस्थिति एवं असहज

विश्व व्यवस्था में भी सांस्कृतिक पहचान एवं सनातनी रीति-रिवाजों को कायम रखते हुए पुरुषार्थ करने की रणनीतिक चतुराई हिन्दू समाज में पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकसित की जाती रही है।

उपरोक्त सन्दर्भ में, आधुनिक भारत के सिद्धान्तकार स्वामी विवेकानन्दजी माने जा सकते हैं जबकि पारम्परिक भारत के समकालीन सिद्धान्तकार 'हिन्द स्वराज' के सम्पादक (गांधीजी) माने जा सकते हैं। दोनों में अन्तर्विरोध नहीं विविधता है। स्वामी विवेकानन्द 'शास्त्र' से 'लोक' की यात्रा करते हैं और 'हिन्द स्वराज' के सम्पादकजी 'लोक' से 'शास्त्र' की यात्रा करते हैं। स्वामी विवेकानन्द का प्रशिक्षण मूलत: ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के विद्यालय, प्रेसिडेंसी कॉलेज एवं साधारण ब्रह्म समाज में हुआ था और इसी पश्चिमी दृष्टि एवं पृष्ठभूमि से गुजरते हुए स्वामी रामकृष्ण परमहंस के सानिध्य में उनका रूपान्तरण हुआ। रूपान्तरण के बाद वे पश्चिम की यात्रा पर गये। उन्होंने पश्चिम के एक वर्ग को प्रभावित भी किया और पश्चिम की उपलब्धियों को उन्होंने स्वीकारा भी तथा कुछ हद तक पश्चिम से वे प्रभावित भी हुए। समकालीन समृद्धि से चमकते भारतवासियों को एक अर्थ में स्वामी विवेकानन्द का मानस पत्र कहना ज्यादा सही है, भले ही उनको मैकाले पुत्र कहने का चलन करीब-करीब रूढ़ हो चुका है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस एक ऐसे पुल हैं जिससे स्वामी विवेकानन्द का आधुनिक भारत और महात्मा गांधी का पारम्परिक भारत स्वाभाविक रूप से जुड़ जाता है। स्वामी विवेकानन्द ने पारम्परिक भारत की लोक परम्परा को समझने की गम्भीर कोशिश नहीं की थी। महात्मा गांधी ने पारम्परिक भारत की शास्त्रीय परम्परा को समझने की कोशिश नहीं की थी। फलस्वरूप दोनों एक-दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। श्रीरामकृण परमहंस की दृष्टि में सभी धर्म सत्य हैं और प्रत्येक धर्म के द्वारा ईश्वर के निकट पहुँचा जा सकता है। यानी जितने मत, उतने पथ। सभी धर्म सत्य हैं और भिन्न-भिन्न धर्मों का सहारा लेकर कोई भी आस्थावान व्यक्ति ईश्वर के पास पहुँच जाता है। ठीक उसी तरह जिस तरह नदियाँ भिन्न-भिन्न दिशाओं से आती हैं, परन्तु सभी समुद्र में जा गिरती हैं। वहाँ पर सभी एक हैं।

रामकृष्ण की पहली मान्यता यह है कि सबसे पहले ईश्वर के दर्शन करना आवश्यक है। निराकार या साकार दोनों प्रकार के ईश्वर का दर्शन फलप्रद है।

जो ईश्वर मन-वाणी से परे हैं, वे ही भक्त की सुविधा एवं कल्याण के लिए देहधारण करके दर्शन देते हैं और बात करते हैं। ईश्वर दर्शन के बाद, उनका निर्देश लेकर ही लोकहित के कार्य करने चाहिए। ईश्वर का निर्देश पाने के लिए पहले चित को शुद्ध करना चाहिए। मन एवं चित शुद्ध होने पर भगवान पवित्र आसन पर आकर बैठते हैं। रामकृष्ण कहते हैं कि पहले ईश्वर तत्त्व में डुबकी लगाओ। बिना डुबकी लगाये और ईश्वर का आशीर्वाद पाये लोगों को समझाना कठिन काम है। भगवान के दर्शन के बाद यदि किसी को उनका आदेश प्राप्त हो, तो वह लोक-शिक्षा दे सकता है। भगवान के निर्देश के बिना लोकशिक्षा नहीं होती। वे सरलता से पूछते हैं कि शास्त्र कितना पढ़ोगे? केवल विचार करने से क्या होगा? पहले ईश्वर की कृपा प्राप्त करने की चेष्टा करो। पुस्तकें पढ़कर क्या जानोगे? पढ़ने तथा अनुभव करने में बहुत अन्तर है। ईश्वर-दर्शन के बाद शास्त्र, विज्ञान आदि सब कूड़ा-कर्कट जैसे लगते हैं। बिना साधना एवं पुरुषार्थ के ईश्वर के साथ परिचय नहीं होता। ईश्वर प्राप्ति के लिए निर्जन में उन्हें पुकारो। कुछ दिन सब कुछ छोड़कर उन्हें अकेले में पुकारो। धर्म का उद्देश्य है ईश्वर को प्राप्त करना, उनका दर्शन करना। श्री रामकृष्ण यह भी कहते हैं कि आस्थावान हिन्दू शब्दों और सिद्धान्तों के जाल में समय बिताना नहीं चाहता। वह यथाशीघ्र ईश्वर का साक्षात्कार कर लेना चाहता है। कारण ईश्वर के केवल प्रत्यक्ष दर्शन से ही समस्त शंकाएँ दूर हो सकती हैं। अत: हिन्दू ऋषि आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में अक्सर यही प्रमाण देते हैं कि "मैंने आत्मा का दर्शन किया है, मैंने ईश्वर का दर्शन किया है।" हिन्दुओं की सारी साधना-प्रणाली का लक्ष्य केवल एक ही है और वह है सतत अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, देवता बन जाना, ईश्वर के निकट पहुँचकर उनका दर्शन करना। और इस प्रकार ईश्वर-सान्निध्य को प्राप्त कर उनका दर्शन कर लेना, ईश्वर के समान पूर्ण हो जाना—यही असल में हिन्दू धर्म है।

रामकृष्ण कहते हैं कि धर्म केवल सिद्धान्तों या मतवादों में नहीं है। सभी धर्मों का चरम लक्ष्य है आत्मा में परमात्मा की अनुभूति। यही एक सार्वभौमिक धर्म है। समस्त धर्मों में यदि कोई सार्वभौमिक सत्य है तो वह है ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना। परमात्मा और उनकी प्राप्ति के साधनों के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मों की धारणाएँ भिन्न-भिन्न भले हीं हो,

पर उन सबमें वही एक केन्द्रीय भाव है। सहस्र त्रिज्याएँ भले ही हों, पर वे सब एक ही केन्द्र में मिलती हैं और यह केन्द्र है ईश्वर का साक्षात्कार— इस इन्द्रिय-ग्राह्य जगत् के पीछे इस निरन्तर खाने-पीने और थोथी बकवास के पीछे, इन उड़ते छाया-स्वपनों और स्वार्थ से भरे इस संसार के पीछे वर्तमान सत्ता की अनुभूति। समस्त ग्रन्थों और धर्म मतों के अतीत इस जगत् की असारता से परे वह विद्यमान है, जिसकी अपने भीतर ईश्वर के रूप में प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। कोई व्यक्ति संसार के समस्त गिरजाघरों में आस्था भले ही रखता हो, अपने सिर पर समस्त धर्मग्रन्थों का बोझ लिए भले ही घूमता हो, इस पृथ्वी की समस्त नदियों में उसने भले ही बप्तिस्मा लिया हो, फिर भी यदि उसे ईश्वर-दर्शन न हुआ हो तो उसे रामकृष्ण घोर नास्तिक ही मानते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने 'राजयोग' नामक पुस्तक में लिखा है कि "सभी धर्माचार्यों ने ईश्वर को देखा था। उन सभी ने आत्मदर्शन किया था; अपने अनन्त स्वरूप का सभी को ज्ञान हुआ था, अपनी भविष्य अवस्था देखी थी और जो कुछ उन्होंने देखा था, उसी का वे प्रचार कर गये। भेद इतना ही है कि प्राय: सभी धर्मों में, विशेषत: आजकल एक अद्‌भुत दावा हमारे सामने उपस्थित होता है; वह यह है कि इस समय ये अनुभूतियाँ असम्भव हैं। जो धर्म के प्रथम संस्थापक हैं, बाद में जिनके नाम से उस धर्म का प्रवर्तन और प्रचलन हुआ है, केवल उन थोड़े आदमियों को ही ऐसा प्रत्यक्षानुभव सम्भव हुआ था।" अब ऐसे अनुभव के लिए रास्ता नहीं रहा। फलत: अब धर्मों पर केवल विश्वास-भर कर लेना होगा। वे आगे कहते हैं कि "इसको मैं पूरी शक्ति से अस्वीकृत करता हूँ। यदि संसार में किसी प्रकार के विज्ञान के द्वारा किसी भी विषय की किसी व्यक्ति ने कभी प्रत्यक्ष अनुभूति या उपलब्धि प्राप्त की है, तो इससे इस सार्वभौमिक सिद्धान्त पर पहुँचा जा सकता है कि पहले भी कोटि-कोटि बार उसकी उपलब्धि की सम्भावना थी, बाद में भी अनन्त काल तक उसकी उपलब्धि की सम्भावना रहेगी। समवर्तन ही प्रकृति का सार्वभौमिक नियम है। एक बार जो घटित हुआ है, वह फिर घटित हो सकता है।"

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि संसार के अन्य धर्मों की तुलना में हिन्दू धर्म में एक भाव विशेष रूप से पाया जाता है। वह भाव यह है कि मनुष्य

को इसी जीवन में ईश्वर की प्राप्ति करनी होगी। इस प्रकार, द्वैतवादियों के मतानुसार ब्रह्म की उपलब्धि करना, ईश्वर का साक्षात्कार करना, या अद्वैतवादियों के कहने के अनुसार ब्रह्म को जानना, यही वेदों के समस्त उपदेशों का एकमात्र लक्ष्य है।

रामकृष्ण परमहंस ने भी पुराणों के आधार पर इसी को दूसरे तरीके से कहा है। एक पुराण के मत में श्रीकृष्ण चिदात्मा हैं और श्रीराधा चित्शक्ति। एक दूसरे पुराण में श्रीकृष्ण को ही काली और आद्याशक्ति कहा गया है। देवी पुराण के मत से काली ने ही कृष्ण का स्वरूप धारण किया है। वास्तव में ईश्वर अनंत हैं और उन तक पहुँचने के मार्ग भी अनंत हैं। जिसने यह रहस्य समझ लिया है उस पर ईश्वर की दया है। ईश्वर की कृपा हुए बिना कभी संशय दूर नहीं होता। असल बात यह है कि किसी तरह उन पर भक्ति होनी चाहिए, प्यार होना चाहिए। अनेक खबरों से क्या काम है? एक रास्ते से चलते-चलते अगर उन पर प्यार हो जाये तो काम बन गया। प्यार के होने से ही उन्हें आदमी पाता है। इसके बाद अगर जरूरत होगी तो वे समझा देंगे—सब रास्तों की खबर बतला देंगे। ईश्वर पर प्यार होने से ही काम हुआ—तरह-तरह के विचारों की क्या आवश्यकता है? आम खाने के लिए आये हो आम खाओ, कितनी डालियाँ हैं, कितने पत्ते हैं, इन सबके हिसाब से क्या मतलब? हनुमान का भाव चाहिए "मैं वार, तिथि, नक्षत्र, यह सब कुछ नहीं जानता, मैं तो बस श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण किया करता हूँ।"

इस तरह हम देखते हैं कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस की शिक्षाओं और स्वाकी विवेकानन्द के आध्यात्मिक व्यावहारिकतावाद सम्बन्धी विचारों में गहरा सम्बन्ध है। स्वामी विवेकानन्द अंग्रेजी राज को बिना नाराज किये अंग्रेजी राज द्वारा इस देश में स्थापित एवं प्रायोजित आधुनिक परिस्थितियों का सनातनी भारत के युगानुकूलन एवं विकास के लिए सदुपयोग करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने एक खास प्रकार की रणनीति अपनाई जिसमें भगवान बुद्ध की तरह, अप्रिय एवं विवादास्पद हो सकने वाले प्रसंगों पर, मौन रहना या बिना विस्तार में गये सांकेतिक बात करना शामिल था। उनकी इस रणनीति को समझे बिना विवेकानन्द साहित्य को सेमेटिक धर्मग्रन्थों की तरफ पाठ करने के पिछले 100 वर्षों में खतरनाक अर्थ निकाले गये हैं और विवेकानन्दजी की बातों के अर्थ का अनर्थ तक किया गया है।

कुछ विवेकानन्दवादी लोग भारत की गुलामी और गुलामी के दौरान भारतीय लोगों की बदहाली और भारतीय संस्कृति को पोषित करने वाली संस्थाओं एवं विशेषज्ञों के क्षरण तथा विरूपीकरण में आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की प्रतिनिधि अंग्रेजी राज के कारनामों को बहुत सफाई से नजरअन्दाज कर अन्ततः वर्गहितों की अप्रत्यक्ष वकालत करते नजर आते हैं। ये लोग खगोलीकरण को समर्थन देने के लिए अंग्रेजी राज के पापों को भी जाने-अनजाने आध्यात्मिक तर्कबोध से नजरअन्दाज कर देना चाहते हैं ऐसा करके उनका उद्देश्य अंग्रेजी राज के दौरान भारतीय इतिहास को बदलना और स्वतंत्रता आन्दोलन एवं महात्मा गांधी के योगदान को कम करना होता है। इसके विपरीत, महात्मा गांधी की चिन्ता सनातन भावबोध एवं सनातन राजनीतिक अर्थशास्त्र का समन्वय करके एक ऐसी सभ्यता के विकास को सम्भव बनाना था, जिसमें पूरब और पश्चिम दोनों जगह के आम जनों का सर्वांगीण विकास हो, परन्तु वह किसी दूसरे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र या सभ्यता के साथ शोषण, लोभ, छल, हिंसा या असत्य पर आधारित न हो।

गांधीजी जैसे राम भक्त वैष्णव ने गीता की केन्द्रीयता अकारण नहीं स्वीकारी थी। आदि शंकराचार्य के समय से विद्वान (ज्ञानी) कहलाने या स्वीकारे जाने के लिए प्रस्थान त्रयी (ब्रह्म यूत्र, उपनिषद् एवं गीता) पर भाष्य करना आवश्यक माना जाता रहा है। अंग्रेजी राज के दौरान बंगाल के एशियाटिक सोसाइटी में विलियम जोन्स, कोलब्रुक, विलकिस जैसे भारतविद्या (इंडोलॉजी) के झंडाबरदारों ने प्रस्थान त्रयी में से सबसे पहले ब्रह्मसूत्र को महत्त्वहीन घोषित किया। फिर 9 उपनिषदों को वैकल्पिक घोषित किया और अन्त में ईसाईयों के बाइबल और मुसलमानों के कुरान की तर्ज पर हिन्दुओं के गीता को एक पवित्र ग्रन्थ के रूप में स्थापित किया। इसी काम को ईस्ट इंडिया कम्पनी की महत्त्वाकांक्षी प्रकाशन योजना 'द सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' (पूर्वी सभ्यताओं के पवित्र ग्रन्थ) ने तार्किक परिणति प्रदान की। कम्पनी ने इस शृंखला का सम्पादक ऐसे व्यक्ति (मैक्समूलर) को बनाया जो न तो संस्कृत का मान्यता प्राप्त विद्वान था और न भारतीय संस्कृति का व्यवस्थित जानकार। जबकि उस वक्त यूरोप में ऐसे सैकड़ों लोग उपलब्ध थे जिन्हें संस्कृत भाषा, भारतीय दर्शन एवं सनातन परम्परा के बारे में मैक्समूलर की तुलना में ज्यादा व्यवस्थित और ज्यादा गहरी

जानकारी थी। फलस्वरूप जाने अनजाने मैक्समूलर जैसे विद्वानों ने वेदों को वैदिक जनजातियों (गड़ेरिया आदि) का ऐसा गीत मान लिया जिसका केवल ऐतिहासिक विकास की प्रारम्भिक, अज्ञानपूर्ण अवस्था को समझने में भाषा विज्ञान एवं इतिहास की दृष्टि से सीमित महत्त्व था।

राममोहन राय से लेकर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तक, राणाडे से लेकर रवीन्द्रनाथ टैगोर तक अधिकांश पढ़े-लिखे लोगों ने वेद एवं वैदिक वाङ्मय को नकार दिया। धर्म की पारम्परिक व्याख्या, इसके पारम्परिक स्वरूप और इसके पारम्परिक स्रोतों का स्थान आधुनिक यूरोप के भारतविद्याविदों के विमर्श ने ले लिया। यह मान लिया गया कि भारत के पास गर्व करने लायक केवल एक ही चीज है इसका मोक्ष प्राप्ति एवं संसारिक सुख-दु:ख, सफलता-असफलता, लाभ-हानि, गुलामी-स्वतंत्रता आदि को 'माया' मानने वाला असंसारिक अध्यात्म जबकि आधुनिक पश्चिम के पास है एक ऐसा विज्ञान, तकनीक, दर्शन, समाजविज्ञान एवं मानविकी जिसके आधार पर कोई भी समाज विकसित, समृद्ध एवं बलशाली बन सकता है। भारतीय अध्यात्म को स्थापित करने एवं समझने-समझाने के लिए शंकराचार्य को भारतीय दर्शन का इमैनुएल कैंट कहा गया है और उनके द्वारा लिखित गीता भाष्य को बाइबल जैसा केन्द्रीय ग्रन्थ घोषित कर दिया गया। फलस्वरूप अंग्रेजी ढंग से पढ़े-लिखे भारतीय लोग अपनी परम्परा से विचलित होकर एक कृत्रिम बौद्धिक विमर्श में लग गये। इस आधार पर तीन वर्ग विकसित हुए :

(1) पहला वर्ग ऐसे भारतीयों का रहा है जिन्हें लगता है कि भारत में ऐसा कुछ भी नहीं है जो काम लायक, सुखदायक या सन्तोषप्रद है। जो भी अच्छा है वह या तो मध्यकाल में तुर्कों, मंगोलों, अफगानों, पारसियों के सम्पर्क से आया है या अंग्रेजों, फ्रांसिसियों, पुर्तगालियों, जर्मनों डचों एवं अमेरिकी प्रभाव से आया है। अत: भविष्य बनाने के लिए हमें हर हाल में पश्चिम की नकल करना पड़ेगा। कोई और रास्ता नहीं है। इस वर्ग के नायक राजा राममोहन राय, डेविड हेयर और हेनरी विवियन डिरोजियो एवं इनके अनुयायी रहे हैं। राममोहन राय के अनुयायी ब्रह्म समाज नामक संगठन में एवं डिरोजियों की शिष्य मंडली 'तरुण बंगाल' नामक मंच तले सक्रिय रहे हैं। 1833 में राममोहन राय की मृत्यु के कुछ समय बाद ब्रह्म समाज द्वारकानाथ टैगोर के परिवार (बेटा देवेन्द्रनाथ टैगोर और पोता रवीन्द्रनाथ टैगोर) एवं

केशवचन्द्र सेन के अनुयायियों में बँट गया। केशवचन्द्र सेन के ईसाई बन जाने के बाद साधारण ब्रह्म समाज नामक एक अलग समूह विकसित हुआ, जिसके अनुयायियों में ब्रह्मबांधव उपाध्याय और नरेन्द्रनाथ दत्त आदि शामिल थे। नरेन्द्रनाथ दत्त केशवचन्द्र सेन के मित्र स्वामी रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव में आते चले गये और बाद में स्वामी विवेकानन्द कहलाये।

ब्रह्मबांधव उपाध्याय केशवचन्द्र सेन की तरह ईसाई बन गये। डिरोजियों के अधिकांश अनुयायी ईसाई धर्म स्वीकार कर प्राचीन परम्पराओं की खिल्ली उड़ाने लगे एवं सामाजिक तथा धार्मिक रीतियों की उपेक्षा करते हुए नारी शिक्षा, मद्यपान एवं गो-मांस भक्षण की वकालत करने लगे। राममोहन राय के अन्य अनुयायियों में विजयकृष्ण गोस्वामी प्रमुख थे। आरम्भ में वह भी ब्रह्म समाजी थे, लेकिन बाद में वैष्णव सन्त बन गये। स्वदेशी आन्दोलन के चार प्रमुख कर्णधार (विपिनचन्द्र पाल, अश्विनीकुमार दत्त, सतीशचन्द्र मुखर्जी और मनोरंजन गुहा ठाकुर) चारो विजयकृष्ण गोस्वामी के ही शिष्य थे।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पर भी राममोहन राय का महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। भारत के मार्क्सवादियों में से अधिकांश खुद को राममोहन राय और उनके ब्रह्म समाज आन्दोलन से किसी न किसी रूप में प्रभावित मानते रहे हैं। इस वर्ग के समकालीन अनुयायियों में से अधिकांश आजकल भारत में रहना अपनी लाचारी मानते हैं और जब भी मौका मिलता है भारत और भारतीयों को हीन एवं हीनतर कहने, लिखने एवं साबित करने में जुटे रहते हैं।

राजा राममोहन राय ने अपने दृष्टिकोण में पूर्व तथा पश्चिम के सर्वोत्तम विचारों का समन्वय स्थापित करना चाहा था। उन्होंने अपनी युवावस्था में वाराणसी में परम्परागत संस्कृत साहित्य तथा सभ्यता का अध्ययन किया। पटना में उन्होंने फारसी और अरबी विद्या का गम्भीरता से अवगाहन किया। दूरवर्ती, समतल मैदानी तथा पर्वतीय भू-भागों की यात्रा करके उन्होंने विभिन्न प्रान्तीय संस्कृतियों, तिब्बती बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म का भी ज्ञानोपार्जन किया। आगे चलकर, उन्होंने अपने जीवन में अंग्रेजी विचारों तथा पाश्चात्य सभ्यता पर भी यथेष्ट अधिकार प्राप्त किया। ईसाई धार्मिक साहित्य का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। जीवन के चौथे दशक में उन्होंने फारसी में लिखित 'तुहफानुल मुवाहिदीन' (एकेश्वरवादियों को उपहार) नामक पुस्तक में यह तर्क दिया कि

सभी धर्मों की स्वाभाविक प्रवृत्ति एकेश्वरवाद की ओर है, किन्तु दुर्भाग्यवश लोगों ने सदा अपने विशिष्ट सम्प्रदाय, पूजन-विधि तथा आचरण पर अधिक बल दिया है। जिसके कारण एक धर्म दूसरे धर्म से पृथक हो जाता है। 1815 और 1817 ई. के बीच उन्होंने 'वेदांत' का बंगला अनुवाद तथा उसका एक संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित किया। उन्होंने बताया कि विवेकहीन मूर्तिपूजा के फलस्वरूप जनसाधारण का चारित्रिक पतन हुआ है। इसलिए वे अपना कर्तव्य समझते हैं कि उसे उसके भार तथा तद्जन्य दासता से मुक्ति दिलाएँ एवं उनकी सुख-समृद्धि में वृद्धि लाएँ। उनके विचार से कोई भी विशेष धर्म ग्रन्थ त्रुटियों से रहित नहीं है बल्कि यह मानव का जन्मजात अधिकार है कि वह परम्पराओं से हटकर चले, विशेषकर यदि परम्पराएँ "सीधे अनैतिकता की ओर ले जाती हों और सामाजिक सुखों के मार्ग में बाधक बनती हों।"

1820 में उन्होंने 'यीशु के वचन' (प्रीसेप्ट्स ऑफ जीसस) का प्रकाशन किया। इसमें उन्होंने विशिष्ट ईसाई सिद्धान्तो तथा ईसाई महापुरुषों के चमत्कारिक कृत्यों की कहानियों के प्रति आस्था से यीशु के नैतिक संदेशों को पृथक किया। उनके विचार से लोगों पर ईसाई धर्म की नैतिक शिक्षा का उनके आध्यात्मिक धर्म शास्त्र की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। शुरू-शुरू में ईसाई धर्म प्रचारकों को राममोहन राय काफी अनुकूल लगते थे और इस अनुकूलता के बदले उन्हें सहयोग भी दिया गया, परन्तु धीरे-धीरे राममोहन राय से उनका मोह भंग होने लगा। फलस्वरूप, ईसाई धर्म प्रचारकों ने राममोहन राय जैसे साहसी 'धर्म विरोधियों' से संघर्ष प्रारम्भ कर दिया था।

1820 और 1823 के बीच राममोहन राय ने अपनी स्थिति के पक्ष में 'ईसाई जनता के प्रति तीन अपीलें' (एपील्स टु द क्रिस्ट्यन पब्लिक) प्रकाशित कीं। 1821 और 1823 के बीच 'ब्रह्म समाज' नामक पत्रिका (ब्राह्मनिकल मैगजीन) में उन्होंने भारत की विशिष्ट परम्पराओं के प्रति गहरी आस्था व्यक्त की और अपने देशवासियों की ओर से ऐसे ईसाई धर्म प्रचारकों का विरोध किया जो निर्धन, भीरू एवं विनीत भारतवासियों का बलात् धर्म परिवर्तन करते थे तथा अपने धर्म के पक्ष में कोई विवेकपूर्ण तर्क प्रस्तुत न करके देशी धर्मों की खिल्ली उड़ाते थे। ईसाई धर्म स्वीकार करने वाले व्यक्तियों को सांसारिक प्रलोभन दिये जाने का भी राममोहन राय ने बाद के

दिनों में विरोध किया, परन्तु अन्त तक राममोहन राय ईसाई धर्म के उत्तम स्वरूप के विरोधी न थे। वे उसे अपने देशवासियों पर अच्छा प्रभाव मानते थे। उन्होंने बंगला भाषा में बाइबल के गॉस्पेल (सुसमाचार) का अनुवाद करने में सिरामपुर के कुछ पादरियों की कुछ सहायता भी की थी।

1830 में उन्होंने स्कॉटिस धर्म प्रचारक डफ को नास्तिक शिक्षा के विरुद्ध जेहाद में भी अत्यधिक सहायता की। धीरे-धीरे वह एक ऐसे विश्व धर्म की ओर अग्रसर हो रहे थे जो हिन्दू और ईसाई परम्पराओं के एकेश्वरवादी बुद्धिवाद एवं विवेकवाद पर आधारित मानवतावादी धर्म होता, परन्तु 1833 में उनकी आकस्मिक मृत्यु हो गई और वे ब्रिटेन के एक ईसाई कब्रिस्तान (यूनियनिस्ट चर्च) में ही दफनाये गये जहाँ आज भी यूनियनिस्ट चर्च और ब्रह्मसमाज की सम्मिलित सभाएँ होती हैं। धीरे-धीरे ब्रह्म समाज आन्दोलन विपरीत दिशाओं में विभाजित होकर बिखरने लगा।

ऐतिहासिक रूप से राममोहन राय पहले भारतीय माने जाते हैं जो भारत पर समृद्ध पश्चिमी प्रभाव के प्रतीक बने। राममोहन राय हमेशा दिखावटी धर्म और संस्कृति की सीमाओं को तोड़ने की कोशिश करते रहे। यहाँ तक कि इस बात पर भी सन्देह किया जा सकता है कि यूरोपीय अर्थों में वे धार्मिक न होकर एग्नॉस्टिक थे और विश्व धर्म की उनकी योजना अकबर के 'दीन-ए-इलाही' की तरह का एक रणनीतिक प्रोजेक्ट था न की आस्थावान अभियान। यदि वह किसी धर्म में विश्वास करते भी थे तो उनके विश्वास के धर्म का अर्थ उस अर्थ से पूर्णतया भिन्न था जो हम सामान्यत: धर्म से लेते हैं। हालाँकि राममोहन राय के एकेश्वरवादियों से घनिष्ठ सम्बन्ध थे लेकिन उनके विचारों में उनकी पूर्ण आस्था नहीं थी। उनके 'यथार्थवाद' ने उन्हें बताया कि भारतीय समाज बीमार है। राममोहन ने अपने देशवासियों की बीमारी का निदान विश्व संस्कृति के व्यापक सन्दर्भ में खोजा। उनके कार्य को ब्रह्म समाज के बाहर डिरोजियो के अनुयायियों और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने आगे बढ़ाया। राममोहन की परम्परा में अन्तिम महान व्यक्ति रवींद्रनाथ टैगोर थे।

1920-21 के राष्ट्रवादी जोश में जब भारत आन्दोलित था तो महात्मा गांधी ने राममोहन राय को 'उपनिषदों के अनजान लेखकों की तुलना में बौना' कहा था। इरफान हबीब, तपन रायचौधरी एवं धर्मपाल जैसे इतिहासकारों ने

अंग्रेजी राज से पहले के भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था, विज्ञान एवं तकनीक तथा शिक्षा के बारे में प्रामाणिक दस्तावेज एवं सूचनाएँ प्रकाशित की हैं जिसके आधार पर भारतीय समाज बीमार नहीं बल्कि काफी समृद्ध एवं खुशहाल नजर आता है। दादा भाई नौरोजी एवं रमेशचन्द्र दत्त जैसे विद्वानों ने अपने लेखन से यह साबित कर दिया था कि भारत में गरीबी, भुखमरी एवं शोषण जैसा अत्याचार अंग्रेजी राज में अंग्रेजों की गलत नीतियों के कारण हुआ, वह पहले के भारतीय इतिहास में नहीं पाया गया। समकालीन इतिहासकार भी यही मानते हैं कि राममोहन राय की विचारधारा भारतीय इतिहास के यथार्थ से प्रभावित नहीं होकर भारत के बारे में अंग्रेजी राज की विचारधारा और कुप्रचार से प्रभावित थी।

(2) दूसरे वर्ग के नायक स्वामी दयानन्द सरस्वती माने जाते हैं। स्वामी दयानन्द ने कहा कि हमें पश्चिम से विज्ञान-तकनीक सीखने की आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार हमारी वैदिक परम्परा में और वेदों में, विज्ञान एवं तकनीक भरा पड़ा है। फलस्वरूप, वे और उनके अनुयायी वैदिक साहित्य में आधुनिक किस्म के विज्ञान एवं तकनीक खोजने लगे। आगे चलकर दयानन्दजी के अनुयायी दो समूहों में, दो रास्तों पर चलने लगे : (क) गुरुकुल कांगड़ी से जुड़े अनुयायी (पंडित गुरुदत्त, लाला मुंशीराम, पंडित लेखराम आदि) पारम्परिक विज्ञान एवं तकनीक के अध्ययन, अध्यापन एवं प्रयोग में लग गये, (ख) दयानन्द ऐंग्लो वैदिक विद्यालय एवं महाविद्यालय चलाने के लिए कटिबद्ध लोग (लाला हंसराज, राय मथुरादास, लाला लाजपत राय आदि) वैदिक परम्परा एवं अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के बीच, कुछ स्वप्रेरणा से तो कुछ थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रभाव में, समन्वय की कोशिश करने लगे, परन्तु दोनों समूहों के आर्य समाजी दो अन्य बातों पर सहमत थे कि (क) हिन्दू समाज इसलिए गुलामी में जीने को अभिसप्त है चूँकि यह सामाजिक कुरीतियों एवं अंधविश्वास के कारण भीतर से कमजोर और दिशाहीन हो गया है, (ख) इससे निजात पाने का एकमात्र उपाय यूरोपीय ढंग के सुधार (धर्म एवं समाज सुधार) आन्दोलन से निकलेगा। स्वामी दयानन्द सरस्वती की पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' एवं 'ऋग्वेदादि भाष्य' भूमिका का आर्य समाजियों के लिए वही महत्त्व हो गया जो बंगाल के सुधारवादियों के लिए गीता एवं उपनिषदों के शंकर भाष्य का था।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म 1824 में एवं मृत्यु 30 अक्टूबर, 1883 में हुई। 1857 की क्रांति के दौरान ये मेरठ के आस-पास सक्रिय थे। मंगल पांडे पर इनका प्रभाव माना जाता है। स्वामी दयानन्द 1860 से 1863 तक स्वामी बिरजानन्द के सानिध्य में रहे और यहीं से इनकी जीवन धारा बदल गई। अब इनके जीवन का लक्ष्य हिन्दू धर्म की असंगतियों को दूर करना तथा वैदिक धर्म को पुन: स्थापित करना हो गया। 1872 ई. में दयानन्दजी कलकत्ता गये जहाँ इनकी मुलाकात देवेन्द्रनाथ टैगोर आदि से हुई। 1875 ई. में आर्य समाज, बम्बई की स्थापना हुई तथा 'सत्यार्थ प्रकाश' का प्रकाशन हुआ। 27 फरवरी, 1886 को दयानन्द ऐंग्लो वैदिक ट्रस्ट एवं सोसाइटी की पहली बैठक शुरू हुई एवं 1 जून, 1886 को लाहौर में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूल शुरू हो गया। 1886 के बाद आर्य समाज दो भागों में विभाजित होकर काम करने लगे।

'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वामी दयानन्द ने हिन्दू धर्म और समाज के पुनर्गठन के लिए वैदिक धर्म को आधार बनाया है। इस पुस्तक में उन्होंने अपने समय में फैली धार्मिक कुरीतियों, जड़ता, पाखंड और भ्रष्टाचार की कड़ी आलोचना की है। भारत के नवजागरण में दयानन्द की खास पहचान 'सत्यार्थ प्रकाश' के प्रकाशन के बाद बनी। उन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए आवाज उठायी, किन्तु राष्ट्रीय एकता की उनकी अवधारणा सभी भारतवासियों द्वारा वेदों की सत्ता और हिन्दू धर्म को स्वीकार करने पर आधारित थी। उन्होंने प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज के सामाजिक सुधारकों की निंदा की, क्योंकि "इन समाज के लोगों में देशभक्ति का अत्यधिक अभाव है और अनेक बातों में उन्होंने ईसाइयों का अनुकरण किया है।" ब्रह्म समाज का विरोध करने का एक कारण यह था कि "ब्रह्म समाज की पवित्र पुस्तक में सन्तों की सूची में ईसा, मोसेज, मोहम्मद, नानक और चैतन्य तक के नाम दिये गये हैं, किन्तु अतीत के ऋषियों में से एक का नाम भी नहीं है। इसे कोई भी सहज ही समझ सकता है कि इन लोगों की मान्यताएँ वे ही हैं, जो इनकी पवित्र पुस्तक में गिनायी विभूतियों की शिक्षाओं से उद्भूत हैं।"

आर्य समाज ने जनता में देशभक्ति की भावनाएँ इस पुनरुत्थानवादी नारे के आधार पर जगाने की कोशिश की : 'वेदों की ओर लौटो!' वह वेदों को ईश्वर का वाक्य मानते थे, अत: उनमें किसी प्रकार की त्रुटि की सम्भावना नहीं थी।

दयानन्द के अनुसार वेद न केवल अतीत के सम्बन्ध में, वरन भविष्य के बारे में भी, ज्ञान के मूर्त रूप हैं। "वेदों को स्वीकार करने से सम्पूर्ण सत्य स्वीकार कर लिया जाता है।" राजा राममोहन राय एवं राणाडे का वैदिक अवधारणाओं और तर्क में टकराव होने पर जहाँ तर्क का पक्ष लेना श्रेष्यकर समझते थे, वहाँ दयानन्द का यह दृढ़ मत था कि वेद ही किसी समस्या का अन्तिम समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं। उन्होंने अपनी विचारधारा को निम्न रूप में अभिव्यक्त किया है—"मैं मानता हूँ कि चारों वेद—जो ज्ञान और धर्म सम्बन्धी सत्यों के निदान हैं—स्वयं ईश्वर के वचन हैं। उनमें केवल संहिता मंत्रों का संकलन है। वे त्रुटियों से पूर्णत: मुक्त हैं और स्वयमेव सबसे बड़ी सत्ता है। दूसरे शब्दों में, उनकी सत्ता की प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार सूर्य अथवा दीपक अपने प्रकाश से स्वयं अपने स्वरूप तथा ब्रह्माण्ड की अन्य वस्तुओं, जैसे पृथ्वी आदि, को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार वेद प्रकाशित है।"

'सत्यार्थ प्रकाश' 19वीं सदी में हिन्दू नवजागरण का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना 1874 में की गई थी और पहली बार यह 1875 में स्टार प्रेस, बनारस से छपा। आर्य समाजी इसे आधार ग्रन्थ मानते हैं। 'सत्यार्थ प्रकाश' से समाज का जो हिस्सा प्रभावित हुआ उसमें खासकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब के खत्री, अरोड़ा, बनिया, कायस्थ और जाट जैसी मंझोली और ऊँची जातियों का अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त वर्ग था जिसने ऊँची सरकारी नौकरियों और व्यापार से अपनी आर्थिक हालत अच्छी बना ली थी और पौराणिक धर्म की अतार्किक एवं खर्चीली प्रथाओं से मुक्त होकर अपनी शिक्षा के अनुरूप एक नयी प्रभावशाली धार्मिक-सांस्कृतिक पहचान बनाना चाहता था। यही वर्ग आर्य समाज आन्दोलन का सामाजिक आधार बना। लेकिन खुद दयानन्द अंग्रेजी शिक्षा और यूरोपीय आधुनिकता के सम्पर्क में कभी नहीं आये। रामकृष्ण परमहंस और दयानन्द, दोनों को अंग्रेजी शिक्षा नहीं मिली थी, फिर भी इन दोनों संन्यासियों ने अपने समय के अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवकों को सबसे ज्यादा आकर्षित किया।

दयानन्द का नवजागरण अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी मूल्यों से प्रेरित न होकर हिन्दू धर्म के पतन के खिलाफ एक प्रतिक्रिया के रूप में उभरा था। हिन्दू धर्म और समाज की बुराइयों के खिलाफ उन्होंने विद्रोह किया।

इस विद्रोह की जड़े लोकतंत्र और बुद्धि-विवेकशीलता की आधुनिक यूरोपीय धारणाओं में न होकर भारत की शास्त्रीय परम्परा में थी, परन्तु उस वक्त तक इस देश में अंग्रेजी राज और पश्चिमी प्रभाव इतना हावी हो चुका था कि स्वामी दयानन्द को अपने देश की संस्कृति और शास्त्रों की सनातनता खतरे में लगने लगी। उनकी प्रतिक्रिया में शत्रु की सबलता और अपनी संस्कृति की निर्बलता का काफी गहरा अहसास देखा जा सकता है। शत्रु से लड़ने के लिए उन्होंने शत्रुओं के शास्त्रीय मानदंड एवं तर्क प्रणाली का हथियार के रूप में इस्तेमाल शुरू किया। फलस्वरूप उनके तर्क इस्लाम, ईसाईयत और ब्रह्म समाजियों के साथ-साथ सनातनी सम्प्रदायों के खिलाफ इस्तेमाल होते रहे। कुल मिलाकर आर्य समाज भारत के हिन्दुओं का एक गैर-सनातनी सम्प्रदाय बनकर उभरा जो यूरोपिय मानदंडों पर धर्म एवं समाज के सुधार के लिए प्रतिबद्ध था।

दयानन्द जिस धार्मिकता को कायम करना चाहते थे उसकी बुनियाद में दो सबसे खास बातें थीं—तर्क और नैतिकता। उन्होंने बहुदेववाद को अस्वीकार किया निराकार ईश्वर की आराधना का समर्थन किया परम्परागत ब्राह्मण पुरोहितों की अधं कट्टरता की आलोचना की, मूर्ति पूजा और बाल विवाह का विरोध किया तथा शिक्षा के प्रसार द्वारा नीची जाति के हिन्दुओं और स्त्रियों के स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया। इन सभी कार्रवाईयों के पीछे उनका उद्देश्य 'हिन्दू धर्म' को सुदृढ़ बनाना था।

जन्म आधारित वर्ण-व्यवस्था मानने का विरोध करते हुए दयानन्द ने तर्क दिया कि "जो कोई रज वीर्य्य से वर्णाश्रम व्यवस्था माने और गुण कर्मों के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिए कि जो कोई वर्ण अपने को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा ईसाई, मुसलमान हो गया हो तो उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? यहाँ यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये, इसलिए वे ब्राह्मण नहीं हैं।" दयानन्द कहते हैं कि "वैदिक साहित्य (वेदों और मनुस्मृति) में वर्ण जन्म पर आधारित न होकर गुण-कर्म पर आधारित है। जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म हों, उस-उस वर्ण का अधिकार देना।" स्वामी दयानन्द के अनुसार ऐसी ही वर्ण-व्यवस्था से समाज की तरक्की होगी। इससे ऊपरवाले वर्णों को डर रहेगा कि अगर हमारे गुण-कर्म ठीक नहीं रहे तो हमें निचले वर्ण में जाना पड़ेगा। साथ ही नीचे

के वर्ण वालों को हौसला मिलेगा कि अच्छे गुण-कर्म करके ऊपर के वर्ण में पहुँचा जा सकता है। दयानन्द के तर्कशील विचारधारा के असर से 19वीं सदी के कारोबारी लोगों और शिक्षित शहरी मध्यवर्ग ने धर्म और समाज के प्रति एक विवेकशील रवैया अपनाया था। तर्क और नैतिकता पर धार्मिकता को खड़ा करने के लिए ही ज्ञान पर जोर दिया। इसने शिक्षित मध्यवर्ग के अन्दर स्वदेशीपन और आत्मगौरव का भाव जगाया। धर्म को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी और मनुष्य के लिए प्रेरणादायक बनाने वाले दयानन्द ने विदेशी विज्ञान और तकनीक को भी मान्यता दी। लेकिन विदेशी संस्कृति और धर्म का विरोध किया।

(3) तीसरे वर्ग के नायक स्वामी रामकृष्ण के शिष्य स्वामी विवेकानन्द माने जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने यह स्वीकार लिया कि भारत का भविष्य भारतीय वेदान्त (उपनिषद् एवं गीता के शंकर भाष्य पर आधारित अद्वैत वेदांत) एवं पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान, दर्शन एवं नैतिकता के समन्वय पर ही निर्भर करता है। वेदान्त के तत्त्व ज्ञान से आत्मा को खुराक मिलेगी परन्तु शरीर एवं मस्तिष्क के पालन पोषण के लिए पश्चिम की मदद, पश्चिम की प्रेरणा आवश्यक है। आधुनिक पश्चिम की सभ्यता को स्वामी विवेकानन्द मध्यकालीन यूरोप की ईसाई परम्परा की तुलना में सनातन हिन्दू परम्परा के ज्यादा अनुकूल, एक तरह से पूरक तत्त्व मानते थे। फलस्वरूप भारतीय समाज की आन्तरिक कमजोरी तथा सामूहिकता की भावना की कमी को उन्होंने करीब 1000 वर्षों की गुलामी एवं सांस्कृतिक पतन का परिणाम माना एवं इसको दूर करने के लिए आधुनिक यूरोपीय धर्म एवं समाज सुधार के तर्ज पर सुधार आन्दोलन की वकालत की। आधुनिक भारत में सुधार आन्दोलन चलाने के लिए स्वामी विवेकानन्द ने किसी सैद्धांतिक विचाराधारा के सुसम्बद्ध आग्रह के स्थान पर हिन्दू चिन्तकों में लोकप्रिय प्रैगमैटिज्म या रणनीतिक व्यावहारिकता एवं सांसारिक युक्ति को ज्यादा महत्त्व दिया।

इस दृष्टि से सजग या असजग रूप से वे समर्थ रामदास की परम्परा से साम्य रखते थे। इसी के तहत उनके भाषणों में एक प्रकार का पैगन विविधता एवं जटिल समायोजन की कलात्मक-सभ्यता-मूलक युक्ति दिखती है। इसी के तहत वे कभी 'इस्लामिक बॉडी एण्ड वेदान्तिक माइंड' (मुसलमानी सामूहिकता एवं वैदान्तिक तत्त्व ज्ञान) के समन्वय की बात करने लगे,

कभी भारतीय अध्यात्म एवं पश्चिमी विज्ञान-तकनीक की वकालत करने लगे। कभी उन्होंने कहा कि अपने दीन-हीन, अभागे-बहनों की हमें भी उसी तरह दान एवं सेवा करनी चाहिए जिस तरह ईसाई लोग 'चैरिटी' (दान) एवं मुसलमान लोग 'जकात' (दान) करते हैं। कभी उनको लगता कि हमारे यहाँ के कमजोर वर्गों की उन्नति तभी होगी जब वे संस्कृत सीखेंगे और अपने भीतर की कुरीतियों एवं कुसंस्कार को दूर करेंगे।

स्वामीजी के चिन्तन में उपरोक्त चीजें प्रत्यक्ष रूप से ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के विद्यालय में पढ़ने के दौरान आयीं, या साधारण ब्रह्म समाज की संगति के दौरान, या कॉलेज के दिनों में एशियाटिक सोसाइटी के भारतविदों के प्रभाव में। यह ठीक से नहीं कहा जा सकता। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के चिन्तन में भी इसका असजग उद्गम या प्रेरणा खोजा जा सकता है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस पर जितना प्रभाव तोता पुरी महाराज के माध्यम से शृंगेरी मठ का था उससे कहीं अधिक भैरवी ब्राह्मणी के माध्यम से तंत्र का था, परन्तु उनकी अपनी अनुभूति माँ काली की अनन्य भक्ति और अपरोक्ष साक्षात्कार से विशिष्ट बनी थी।

स्वामी विवेकानन्द ने कई बार स्वीकारा है कि स्वामी रामकृष्ण के जीवन में वे उनको ठीक से समझ नहीं पाये और सम्पूर्ण समर्पण नहीं कर पाये। स्वामी रामकृष्ण भक्तिमार्गी थे जबकि स्वामी विवेकानन्द कर्ममार्गी थे। इस तरह स्वामी रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में थोड़ा अन्तर तो अवश्य है। यह अन्तर एक हद तक भारतीय परम्परा एवं भारतीय आधुनिकता के बीच का अन्तर कहा जा सकता है। कुछ हद तक स्वामी विवेकानन्द यूरोपीय दृष्टि वाली समाजिक सुधार एवं धर्मसुधार से प्रभावित थे। एक हद तक यह आधुनिक दृष्टि महात्मा गांधी में भी थी, परन्तु स्वामी रामकृष्ण परमहंस में नहीं थी।

स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी दोनों एक अर्थ में भारत और पश्चिम के बीच समन्वय करना चाहते थे, परन्तु दोनों की दृष्टि भिन्न थी। कुछ विद्वानों का कहना है कि स्वामी विवेकानन्द पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान, तकनीक एवं मैनेजमेंट (व्यवस्था प्रबन्ध) का भारतीय वेदान्त की जीवन दृष्टि से समन्वय करना चाहते थे, जबकि आई.जी. पटेल, श्रीअरबिन्दो और कुछ अन्य लोगों का कहना रहा है कि महात्मा गांधी भारतीय तकनीक, व्यवस्था

प्रबन्ध एवं पारम्परिक ज्ञान-विज्ञान का ईसाई समाजवादी जीवन दृष्टि एवं नैतिकता से प्रेरणा ग्रहण कर, युगानुकूलन एवं समन्वय करना चाहते थे। स्वामी विवेकानन्द भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति उदासीन थे जबकि महात्मा गांधी अपने समय में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के जननायक थे। फलस्वरूप, स्वामी विवेकानन्द अपने जीवन काल में उतने प्रभावी नहीं थे जितने प्रभावी महात्मा गांधी अपने जीवन काल में थे, परन्तु धीरे-धीरे स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव बढ़ता गया जबकि मृत्यु के बाद भारत में महात्मा गांधी का प्रभाव घटता गया। यदि दोनों के अनुयायियों की सामाजिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का समाजशास्त्रीय अध्ययन करें तो यह देखने में आता है कि स्वामी विवेकानन्द भारतीय मध्यवर्ग एवं भारतीय मूल के सम्पन्न तबकों में ज्यादा लोकप्रिय एवं प्रभावी हैं। जबकि महात्मा गांधी भारत से ज्यादा विदशों में लोकप्रिय एवं प्रभावी हैं।

भारत की आम जनता में महात्मा गांधी के प्रति पूजा का भाव है, परन्तु भारत का शिक्षित एवं सम्पन्न मध्यम वर्ग महात्मा गांधी के आर्थिक-सामाजिक एवं सभ्यता-मूलक विचारों के प्रति उदासीन रहता है। स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी दोनों के विचार बहुआयामी हैं और उनका प्रभाव भी बहुआयामी है। अत: दोनों को एक-दूसरे का वैचारिक प्रतिद्वंद्वी नहीं माना जा सकता। दोनों में एक प्रकार की सभ्यता-मूलक पूरकता है और दोनों में समान रूप से भारतीय संस्कृति की समन्वयवादी दृष्टि का भाव है, परन्तु दोनों की तर्क प्रणाली अलग-अलग है और दोनों के विचारों से प्रभाव ग्रहण करने वाले सामाजिक समूहों एवं समुदायों में विश्लेषण एवं अध्ययन की दृष्टि से अन्तर करना सम्भव है।

उपरोक्त सन्दर्भ में 1906 में महात्मा गांधी ने साउथ अफ्रीका में रंगभेद के खिलाफ सुविचारित आन्दोलन शुरू किया। 1905-1906 में ही भारत में बंगाल विभाजन के विरोध में स्वदेशी आन्दोलन शुरू हुआ जिसने कांग्रेस पार्टी को अखिल भारतीय स्तर पर गरमपंथी और नरमपंथी दो समूहों में विभक्त कर दिया। गरमपंथी समूह के महानायक लोकमान्य बालगंगाधर तिलक थे और उनके प्रमुख सहयोगियों में बिपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपत राय एवं श्रीअरबिन्दो घोष आदि थे। तिलक महाराज ने 'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का नारा लगाया और गणेश महोत्सव जैसे जनभागीदारी वाले

लोक त्योहार को सांस्कृतिक-राजनीतिक आन्दोलन के लिए माध्यम बनाया। नरमपंथी समूह के नायकों में दादा भाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, फिरोज शाह मेहता जैसे विद्वान एवं सुधारवादी लोग थे। ये लोग अंग्रेजी राज के खिलाफ नहीं थे, परन्तु अंग्रेजी राज के अन्तर्गत ही भारतीय लोगों के लिए ज्यादा संवैधानिक अधिकार चाहते थे। इसके लिए ये लोग आन्दोलन के बदले, अंग्रेजों की नैतिकता पर भरोसा करके उनके हृदय परिवर्तन के लिए उन्हें अंग्रेजी राज के कारिंदों एवं नीतियों की त्रुटियों एवं अनैतिकता आदि के बारे में आवेदन करते रहते थे। ऐसी परिस्थिति में 1909 में 'हिन्द स्वरज' की रचना हुई।

'हिन्द स्वराज' में गांधीजी ने भारत के आम आदमी, लोक-संस्कृति एवं सनातनी हिन्दुओं के प्रतिनिधि के रूप में आत्म-सजग होकर एक सैद्धान्तिक पक्ष प्रस्तुत किया है। 'हिन्द स्वराज' लिखते वक्त भारत में बहुत कुछ वैसी ही स्थिति रही होगी, जिसकी चर्चा श्रीमद्भागवत गीता के पहले अध्याय में है जब धृतराष्ट्र संजय से कुरुक्षेत्र में आमने-सामने युद्ध के लिए खड़ी कौरवों-पांडवों की सेना के बारे में पूछते हैं। जिस तरह गीता के पहले अध्याय के अन्तर्गत श्रीकृष्ण-अर्जुन के संवाद को महाभारत के व्यापक संदर्भ से जोड़ा गया है उसी तरह 'हिन्द स्वराज' में सम्पादक—पाठक संवाद को कांग्रेस पार्टी के अन्तर्गत चल रहे स्वतंत्रता आन्दोलन के वैचारिक महाभारत से जोड़ा गया है। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय परम्परा में वेदव्यासजी वेद, पुराण, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता के सम्पादक ही माने गये हैं। यह माना जाता है कि वैदिक परम्परा गुरु-शिष्य परम्परा में गुरु मुखी विद्या के रूप में हस्तांतरित होती रही है और व्यासजी ने इनका पुस्तक के रूप में मात्र संकलन-सम्पादन किया है।

यदि 'हिन्द स्वराज' के बारे में गांधीजी के विभिन्न अवसरों पर व्यक्त विचारों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाये और 'हिन्द स्वराज' की आन्तरिक संरचना पर ध्यान दिया जाये तो कोई शंका नहीं रह जाती कि गांधीवादियों के लिए 'हिन्द स्वराज' महात्मा गांधी का लोक वेद भी है और लोक गीता भी। यह उनका लोकशास्त्र भी है और स्वराज शास्त्र भी। यह प्रवृत्ति मार्ग की वकालत है, परन्तु इसका ज्यादा सम्बन्ध 'स्व' से है राज्य और उसके तंत्र से नहीं है। यह व्यक्ति के 'स्व' (आत्मा), समाज की संस्कृति एवं

सभ्यता की नियति का लोक में व्याप्त एवं प्रिय शास्त्र का संकलन, सम्पादन का प्रतिफल है। एक पारम्परिक दस्तावेज के युगानुकूल अभिव्यक्ति का कलात्मक रूपान्तरण है। भारत में पारम्परिक सम्प्रेषण के क्रम में मिथकों के रूपान्तरण के लिए महाकाव्यों या नाटकों का उपयोग किया जाता रहा है। साथ ही लोक में पारम्परिक आख्यानों का उपयोग सामाजिक विमर्शों में नैतिक बल प्राप्त करने के लिए एवं अपने पक्ष को सत्य, न्याय एवं धर्म पर साबित करने के लिए किया जाता रहा है।

महात्मा गांधी ने भी गीता के पाठ (टेक्सट) एवं राम नाम का उपयोग नैतिक बल प्राप्त करने एवं अपने प्रयासों को सनातन धर्म के अनुकूल साबित करने के लिए किया। बिना कोई घोषणा किये उन्होंने वैष्णवों के दोनों सम्प्रदायों रामनामियों एवं कृष्णाश्रयियों में उसी काल खण्ड में, समन्वय का मार्ग लोकप्रिय बनाया। तिलक महाराज शैव परम्परा का सम्बल दे रहे थे और रामचन्द्र शुक्ल राम उपासकों की दृष्टि रखते हुए कृष्ण भक्ति के प्रति अपनी आलोचना में कटाक्ष कर रहे थे। श्रीअरबिन्दो वासुदेव कृष्ण के योगी और तांत्रिक रूप से गहरे प्रेरित थे। डॉ. भीमराव अम्बेडकर भक्ति आन्दोलन और बौद्ध परम्परा की वकालत कर रहे थे। केवल रामकृष्ण और महात्मा गांधी के पास सम्प्रदाय निरपेक्ष सभ्यता-मूलक विमर्श निर्मित करने की आत्मसजग चेतना बार-बार दिखती है। व्यक्तिगत आस्था क्रमशः माँ काली (रामकृष्ण) एवं निर्गुण राम (महात्मा गांधी) में होने के बावजूद भाषा, तत्त्व–चिन्तन एवं आख्यानों के चुनाव के सन्दर्भ में सनातन धर्म की सभ्यता-मूलक विशालता, सहिष्णुता, समन्वय दृष्टि एवं सम्पूर्ण सत्य के प्रति तादात्म्यता एवं आचार-विचार में महाकरुणा एवं अहिंसा-जैसा दर्शन इन दोनों में होता है, वैसा अन्यत्र नहीं होता।

बिना घोषणा किये 'हिन्द स्वराज' को गांधीजी सनातन भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण गाथा महाभारत से जोड़ते हैं। अपने समय (1909) के भारत के वैचारिक संघर्ष को महाभारत के सनातनी कैनवा में प्रस्तुत करते हुए वे पश्चिमी सभ्यता की कठोर आलोचना प्रस्तुत करते हैं। भारत के सांस्कृतिक इतिहास से परिचित हुए बिना 'हिन्द स्वराज' के संरचनात्मक शिल्प को समझना सम्भव नहीं है। यह शोध का विषय है कि 'हिन्द स्वराज' की प्रस्तुति का शिल्प महात्मा गांधी ने रस्किन के कला सिद्धान्त से लिया या टॉलस्टॉय

के महाकाव्यात्मक उपन्यासों से या फिर तुलसीदास से जिन्होंने वाल्मीकि रामायण के संरचनात्मक शिल्प और कथात्मक सन्तुलन को बिना घोषणा किये अपने रामचरित मानस में बदल दिया था और उत्तर भारत की जनता ने भी बिना घोषणा किये ही इसका लोकवेद के रूप में परायण शुरू कर दिया। जो भी हो 'महाभारत' की कथा और गीता की संरचना से जोड़े बिना 'हिन्द स्वराज' को समझने की हर कोशिश एक पैरोड़ी बनकर रह गई है। और यह स्वाभाविक परिणति है।

'महाभारत' की कथा के अनुसार पुत्रमोह में अंधे राजा धृतराष्ट्र जन्मान्ध भी थे। संजय उनके सारथी बने हैं। राजा धृतराष्ट्र कुरुक्षेत्र में होने वाले युद्ध का हाल जानने के लिए उतावले हो रहे हैं। संजय उन्हें कुरुक्षेत्र में होने जा रहे महाभारत की तैयारी का हाल गीता के प्रथम अध्याय में बतलाते हैं। पाण्डवों की सेना के महानायक अर्जुन के सारथी श्रीकृष्ण हैं। शत्रु सेना में अपने बन्धु-बाँधवों, गुरुजनों एवं पूज्यजनों को देखकर अर्जुन मोह में फँसकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। श्रीकृष्ण गीता के उपदेश द्वारा अर्जुन को (मोह पाश-काट कर अपने सगे सम्बन्धियों के विरुद्ध हस्तिनापुर राज्य पर पाण्डव कुल के अधिकार की पुर्नप्राप्ति के लिए) युद्ध करने के लिए तैयार करते हैं।

तिलक महाराज ने गीता रहस्य में कर्मवाद को स्थापित किया था। वे 'आर्कटिक होम इन द वेदाज' एवं 'ओरियन' जैसी दुरूह ज्ञानमार्गी कृतियों की भी रचना कर चुके थे। इनके विपरीत 'हिन्द स्वराज' में महात्मा गांधी भक्ति मार्ग एवं प्रेम साधना को पुरुषार्थ के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसके सारे अध्याय अर्थवत्ता की दृष्टि से एक-दूसरे पर निर्भर हैं। पूरी पुस्तिका एक बार पढ़ लेने के बाद ही अलग-अलग अध्यायों का अर्थ खुल पाता है, परन्तु वह भी तब जब इसे हम सनातन भारतीय दृष्टि का एक पाठ माने वर्ना राजमोहन गांधी जैसे लोग तो इसे अपने समय की कृति (यानी आज के समय के लिए अप्रासंगिक कृति) साबित करने में लगे ही हुए हैं। हमारे कुछ मित्रों को ऐसा लगता है कि 'हिन्द स्वराज' की 'श्रीमद्भागवत गीता' से तुलना करना और महात्मा गांधी के विचारों की भगवान श्रीकृष्ण के गीता में वर्णित विचारों से तुलना करना एक प्रकार की अतिरंजना है जिससे बचना चाहिए। महात्मा गांधी के जीवन में और उनके शरीर छोड़ने के बाद भी जिस तरह बड़े-बड़े

लोगों ने उन पर अभारतीय एवं अहिन्द होने तथा बाहरी विचारों एवं निष्ठाओं से प्रभावित होने का मिथक गढ़ा, उसको ध्यान में रखकर उपरोक्त तथ्यों को सामने लाना समयानुकूल है।

तिलक महाराज जब 'गीता रहस्य' रच रहे थे तो अंग्रेजी राज के विकल्प की प्रेरणा उन्हें शिवाजी महाराज और पेशवाओं की शासन व्यवस्था से मिली थी। गीता रहस्य में कौरव एक तरफ औरंगजेब के प्रतीक हैं तो दूसरी तरफ अंग्रेजी राज का। श्रीकृष्ण का युगानुकूलन समर्थ रामदास में खोजा जा सकता है और अर्जुन का शिवाजी महाराज में। लेकिन अंग्रेजों से लड़ने की प्रेरणा तिलक महाराज 'दासबोध', 'ज्ञानेश्वरी' या गीता के शंकर भाष्य से नहीं लेते, उनकी प्रेरणा अन्ततः अन्तरात्मा से आती है। गीता रहस्य और गणपति महोत्सव एक ही रणनीति के दो पहलू हैं। तिलक महाराज को परम्परा की सीमा पता है इसके बावजूद वे राणाडे एवं गोखले की तरह सुधारवादी नहीं हैं। दूसरी ओर, कहीं न कहीं रामचन्द्र शुक्ल एवं सुधारवादियों में वैचारिक समता अवश्य है। युगपरिवर्तन को नहीं स्वीकारना और जोड़-तोड़ करके पुरानी संरचना को कायम रखना पुनरुत्थानवादी रुझान है जो सनातनी दृष्टि से अभारतीय है। हर उत्सव में हम भारतीय लोग पुनर्रचना करते हैं और उत्सव की समाप्ति पर विसर्जन कर देते हैं। केवल ब्रह्मा और विष्णु नहीं, शिव भी सनातन देवता हैं। भारतीय परम्परा में, केवल सगुण और निर्गुण पक्ष नहीं है आस्ति और नास्तिक पक्ष भी हैं। लोकायत भी एक वैध भारतीय दर्शन है। नौ रसों में एक वैध रस वीभत्स भी है। स्मृतिकारों ने केवल ब्रह्म और प्रजापत्य विवाह को नहीं स्वीकारा है, बल्कि गंधर्व, राक्षस एवं पैशाच विवाह को भी एक सीमा तक वैध माना है। भारतीय परम्परा केवल त्याग, अध्यात्म और योग की नहीं है भोग, प्रकृतिवादी भौतिकता और राग एवं चिकित्सा की भी है। भारतीय परम्परा नियम एवं सिद्धान्त पर आधारित संसार एवं जगत की चर्चा करती है, नैतिकवादी आग्रह और अनैतिक व्यवहार में सामंजस्य बिठाने की चर्चा नहीं करती। तंत्र एवं आगम की परम्परा भी उतनी ही भारतीय है जितना वेद और वेदान्त की। तुलसी के मानस में सबको स्वीकारने का साहस है, परन्तु शुक्लजी की मौलिकता की अपनी सीमाएँ हैं। यह सीमा कभी कबीर के मूल्यांकन में सामने आती है, कभी गांधी के मूल्यांकन को असन्तुलित करती है और कभी निराला की संवेदना के साथ

न्यान करने में बाधा बनती है। भारतीय परम्परा सर्वग्राही एवं कॉस्मिक रियलिस्ट (एकात्मक यर्थाथवादी) रही है। महात्मा गांधी का 'हिन्द स्वराज' इसी भारतीय परम्परा की वकालत करती है। इसमें वे तिलक महाराज, विवेकानन्द, रामकृष्ण, समर्थ रामदास, तुलसीदास और कबीर से भी पीछे जाकर गीता और महाभारत की वाचिक परम्परा के लोक पक्ष के वारिस हैं और इस परम्परा के समकालीन सिद्धान्तकार भी।

महात्मा गांधी और उनके आलोचक

महात्मा गांधी के समकालीनों ने उनके जीवन में ही उनकी व्यक्तिगत महानता स्वीकार कर ली थी, परन्तु उनमें से अधिकांश लोगों ने उनके विचारों, आस्थाओं एवं रणनीतियों की कटु आलोचना की थी। उदाहरण के लिए स्वदेशी एवं असहयोग आन्दोलन के बारे में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने गांधीजी के विचारों की कठोर वैचारिक आलोचन प्रस्तुत की थी। टैगोर का औपचारिक रूप से स्कूल नहीं जाना उनके लिए वरदान साबित हुआ। दूसरा, उनकी विलक्षण प्रतिभा ने उन्हें ब्रह्म समाज की पश्चिम परस्त बौद्धिकता से मुक्त करके चंडीदास से जुड़ने में उनका साथ दिया। तीसरा, उनका सौभाग्य था कि वे यूरोप एवं आधुनिकता को गैर-ब्रिटिश, गैर-फ्रांसीसी या गैर-अमेरिकी दृष्टि से काउंट केसरलिंग से अपनी दोस्ती एवं संवाद के कारण देख पाये। टैगोर पर स्वामी विवेकानन्द के अद्वैत वेदांत का भी प्रभाव था। उसी प्रकार भारत के पुनर्निर्माण के बारे में जवाहरलाल नेहरू पर एक ओर पश्चिमी समाजवाद का प्रभाव था, दूसरी ओर उन पर कश्मीरी शैव चिन्तन का भी अप्रत्यक्ष प्रभाव था। बाबासाहब अम्बेडकर भगवान बुद्ध, सन्त कबीर एवं महात्मा फुले से प्रभावित थे। मुहम्मद अली जिन्ना एवं कुछ मार्क्सवादी नेताओं को महात्मा गांधी एक कट्टर हिन्दुत्ववादी नजर आते थे तो श्रीअरबिन्दो एवं वीर सावरकर के अनुयायियों को महात्मा गांधी अभारतीय एवं अहिन्दू नजर आते थे।

उसी तरह हिन्दी भाषी समाज में सांस्कृतिक नवजागरण के एक प्रमुख स्तंभ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिन्तसमणि-4' में संकलित अपने लेख 'असहयोग और अव्यापारिक श्रेणियाँ' में महात्मा गांधी के विचारों एवं उनकी नीतियों के फलितार्थों के प्रति विस्तृत एवं स्पष्ट सार्वजनिक आलोचना

प्रस्तुत की थी। उन्होंने लिखा कि "महात्मा गांधी यूरोपीय आन्दोलनकारी के सारे युक्ति कौशल में प्रशिक्षित होकर दक्षिण अफ्रीका से आये हैं। आन्दोलनकारी के रूप में वे अतुलनीय हैं। भारत को उनके जैसे व्यक्ति की अत्यधिक आवश्यकता थी, किन्तु आन्दोलनकर्ता समस्त मामलों में एक अच्छा प्रशासक भी सिद्ध होगा, यह मेरे सामने उतना स्पष्ट नहीं है। महात्मा गांधी उन बिन्दुओं को अच्छी तरह जानते हैं जिन्हें स्पर्श किया जाय तो वे तीव्रतम उत्तेजना पैदा कर सकते हैं। उनके अर्द्ध-धार्मिक एवं अर्द्ध-राजनीतिक प्रवचनों ने करोड़ों के हृदय झकझोर दिये। व्यापारिक समुदाय को तो लगभग मतान्धता की ओर परिचालित कर दिया है। इसका ही यह परिणाम था कि कलकत्ता के विशेष कांग्रेस अधिवेशन में वयोवृद्ध एवं सम्मानित नेता केवल नगण्य ही नहीं हुए अपितु उनके अनुयायियों द्वारा वे खुलेआम अपमानित भी किये गये। हमें नहीं मालूम कि महात्मा गांधी सदैव यह अनुभव कर पाते हैं, अथवा नहीं कि उनके शब्दों से कभी-कभी ऐसे परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं, जो उनकी पकड़ से बाही हैं। हम तो यही देखना प्रारम्भ कर रहे हैं कि उनकी अहिंसा किसी भी प्रकार शान्ति सुव्यवस्था का पर्याय नहीं है। महात्मा गांधी ने असहयोग की अनिश्चित योजना प्रारम्भ कर दी। इसने जो शोर और कोलाहल पैदा किया उससे मुग्ध होकर इसके असन्तुलित चरित्र को बिना सोचे-विचारे लोग इसकी ओर दौड़ पड़े, किन्तु यह पूर्णतया स्पष्ट है कि कोलाहल का सृजन मात्र, जिसमें असहयोगियों ने निश्चित रूपेण उल्लेखनीय सफलता अर्जित की है, किसी भी तरह अन्यायों का निराकरण नहीं कर पायेगा और न ही उनकी (अंग्रजों की) ख्याति के अवसरों में कमी कर सकेगा। विभाजन के विरुद्ध बंगाल में जिस प्रकार आन्दोलन संगठित किया गया, उसी प्रकार अधिक सुनिश्चित एवं अधिक लक्ष्योन्मुख कार्य प्रदर्शन की आवश्यकता है। सत्याग्रह आन्दोलन की नियति देखकर महात्मा गांधी की प्रणाली के प्रति विश्वास डिग जाना चाहिए था, किन्तु व्यक्तित्वों के प्रति रहस्यवादी भक्ति भारतीय जन समूह की चारित्रक विशेषता है। लोकमान्य तिलक की मृत्यु ने राष्ट्रवादियों के पूरे दल को महात्मा गांधी की अनुकम्पा पर छोड़ दिया है। इसके बहुत से विचारशील नेता जिनमें महाराष्ट्रीय लोग भी सम्मलित हैं, अपनी पीठ पर तमाम सामाजिक एवं आर्थिक विचारधाराओं की गठरी लादे हुए कांग्रेस की प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए चुपचाप

असहयोगियों की कतार में शामिल हो गये। और स्पष्ट कहा जाय तो उन्होंने ऐसा इसलिए किया, ताकि वे अनभिज्ञ एवं तरुण लोगों की हूटिंग से अपने को बचा सकें।"

आचार्य शुक्ल महात्मा गांधी के चमत्कारी व्यकितत्व एवं नेतृत्व को भारतीय समाज के लिए कल्याणप्रद नहीं मानते। वे उनके नेतृत्व को अर्द्ध-धार्मिक एवं अर्द्ध-राजनीतिक प्रवचनों पर आधारित मानते हैं और उनकी लोकप्रियता को भारतीय जनसमूह में व्याप्त व्यक्तित्वों के प्रति रहस्यवादी भक्ति का कुफल मानते हैं। शुक्लजी के विचार प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान तेन से प्रभावित थे। उनकी व्याख्या से हर बार सहमत होना आवश्यक नहीं है, परन्तु उनका यह कहना आश्चर्यजनक है कि महात्मा गांधी द्वारा शुरू किये गये असहयोग आन्दोलन की कोई निश्चित योजना नहीं थी। 'हिन्द स्वराज' का प्रकाशन एक दशक पहले हो चुका था। 'हिन्द स्वराज' और 'असहयोग आन्दोलन' के बीच रिश्ता नहीं देखना अजीब विडंबना है, परन्तु शुक्लजी का गांधी विरोध ज्यादा गहरी मान्यताओं का प्रतिफल था। वे आगे लिखते हैं—

"महात्मा गांधी की उक्तियों में बोलशेविज्म का स्पर्श लोकप्रिय (पापुलर) कल्पना को तभी तक आकर्षित कर रहा है, जब तक इसका तरीका पक्षधर है। थोड़े से भी चिन्तन से वे यह देखने में समर्थ हो जायेंगे कि यह असहयोग केवल एक सतही विद्रोह है जिसमें बहुत से परस्पर विरोधी असन्तुलनीय तत्त्व स्वयं को स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं। हमें इस आन्दोलन में ऐसे व्यक्ति मिल जायेंगे जो यूरोप के किसी नवीनतम उन्माद को मानव प्रगति का चरम बिन्दु समझ कर स्वीकार कर लेते हैं और प्रत्येक वस्तु का पूरा सफाया कर देना चाहते हैं जो अतीत से उपलब्ध हुई हैं, साथ ही साथ ऐसे व्यक्ति भी इसमें सम्मलित हैं जो प्राचीन भारत के स्वप्न-चिन्तन में निरत हैं एवं पुरातन अवशेषों की प्रत्येक वस्तु के पुनरुत्थान का विचार कर रहे हैं। इस आन्दोलन में ऐसे व्यक्ति भी हैं जो अपनी जन्मभूमि के प्रति देश-भक्ति के आधुनिक बोध से ओत-प्रोत हैं, साथ-ही-साथ ऐसे व्यक्ति हैं जो जाति, धर्म या मत के आधार पर एकता के विचारों को दृढ़ता से पकड़े हुए हैं। ये सभी व्यक्ति-समूह इस विश्वास से अभिप्रेरित हैं कि वे अपने भिन्न आदर्शों एवं उद्देश्यों की पूर्ति की ओर बढ़ते जा रहे हैं। इस प्रकार का विलक्षण सम्मिश्रण अपने विभिन्न घटकों को अधिक दिन एक साथ नहीं रख पायेगा।

अतएव महात्मा गांधी के स्वराज सम्बन्धी विचार कल्पना विलासी हैं। वह या अन्य कोई भी महात्मा इस प्रकार की परस्पर विरोधी चीजों में सामन्जस्य लाने का चमत्कार नहीं दिखा सकता।"

शुक्लजी के इस लेख में महात्मा गांधी को भारतीय समाज की व्यापारिक श्रेणियों का प्रतिनिधि एवं हित रक्षक एवं अव्यापारिक श्रेणियों के हितों के प्रति उदासी बतलाया गया है। शुक्लजी ने लिखा है, "अब हम देख सकते हैं कि असहयोग आन्दोलन ने व्यापारिक श्रेणियों के साथ इतनी अधिक पक्षधरता क्यों प्राप्त की और ऐसे बेमिसाल जोश के साथ उनमें से इतने अधिक लोग सिद्धान्त का उपदेश देने के लिए क्यों अग्रसर हुए। सर्वप्रथम तो यह इनसे त्याग की लेशमात्र अपेक्षा नहीं रखता, जबकि अव्यापारिक श्रेणियों को जो कुछ अब भी उनके पास शेष बचा है, वह बलिदान कर देने को कहता है। यद्यपि असहयोग के कार्यक्रमों में 'बहिष्कार' भी एक है तथापि इतना समझने के लिए वे पर्याप्त चतुर हैं कि अव्यावहारिक घोषित हो जाने से बहिष्कार, एक उपेक्षणीय इकाई हो जाता है, जिसका दबाव किसी गम्भीरता के साथ उन पर नहीं डाला जा सकता। इसकी व्यावहारिकता तो पूरी-की-पूरी व्यापारिक श्रेणियों के पक्ष में लागू होती है। विद्यालयों तथा महाविद्यालयों से वापसी, राजकीय सेवाओं के त्याग, जमींदार और किसान के रूप में परस्पर एक-दूसरे से युद्ध करते रहने से अधिक व्यावहारिक तथा विदेशी व्यापारियों के साथ किसी एक भी वस्तु की सौदेबाजी के नाम से बढ़कर अव्यापारिक और क्या हो सकता है?

आढ़ती, सट्टेबाज, आयातक, निर्यातक एवं डीलर को अपना सम्बन्धित व्यापार पूरे ऐश्वर्य एवं शानोशौकत के साथ जारी रखना है। यह तो केवल अव्यापारिक और राजनीतिक श्रेणी है, जिन्हें अपने क्षेत्र से बाहर आना है और व्यापारिक समुदाय की शरण में अपने घुटने टेक देना है, जिनकी पूँजी अभी तक उन्हें आकर्षित कर पाने में असमर्थ रही है।

इस लेख में शुक्लजी स्वतंत्रता आन्दोलन के वैचारिक टकराव को नये परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। इसका उद्देश्य गांधीजी को वर्ग हित से जोड़ना है। शुक्लजी की हिम्मत को दाद देनी पड़ेगी कि उन्होंने गांधीजी के बारे में अपने और अपने जैसों का विचार बड़ी ईमानदारी से रखा। वे कहते हैं कि जब असहयोग आन्दोलन राजस्व का भुगतान न करने की सीमा तक जा

सकता है तो भूमि अधिकारी या कृषक वर्गों के पास क्या गारंटी है कि जिस समय उनकी भूमि नीलामी पर रखी जायेगी, उस समय व्यापारिक समुदाय के सदस्य उनकी जमीनों को खरीद लेने के लिए आगे बढ़कर भाग दौड़ नहीं करेगें। दोनों वर्गों द्वारा समान रूप से त्याग का सिद्धान्त असहयोगियों की नीति में चरितार्थ होना चाहिए। यदि वे वास्तव में सरकारी कार्यतंत्र को बन्द कर देने एवं ब्रिटिश व्यवसाय को पंगु बना देने में अपने को सक्षम समझते हैं तो उन्हें अपने कर्म के लिए अनिवार्यत: एक वृहत्तर दृष्टिकोण अपनाना होगा। अब तक किये गये गौरवपूर्ण बलिदान अव्यापारिक श्रेणियों तक ही सीमित रहे हैं। व्यापारिक वर्ग उदारता के अत्यन्त न्यून प्रदर्शन के साथ केवल कोलाहल और भाग दौड़ में सम्मिलित हुआ है।

बिड़ला, बजाज जैसे व्यवसायियों के साथ गांधीजी के जगजाहिर सम्बन्ध को देखते हुए शुक्लजी के लेख में उपरोक्त दृष्टि एक नजर में अस्वाभाविक नहीं लगती, परन्तु यह दृष्टि एक प्रकार के सरलीकरण पर ही आधारित है। यह ठीक है कि स्वदेशी आन्दोलन से लेकर असहयोग आन्दोलन तक भारत के विभिन्न वर्गों की भागीदारी एक जैसी नहीं थी और इस भागीदारी को वर्ग हितों ने भी प्रभावित किया था, परन्तु इसका यह अर्थ लगाना ठीक नहीं है कि महात्मा गांधी को अव्यापारिक श्रेणियों या वर्गों की चिन्ता नहीं थी। 'हिन्द स्वराज' की प्रमुख चिन्ता भारतीय सभ्यता की दृष्टि से समकालीन भारत और पश्चिमी सभ्यता के बीच अंग्रेजी राज के दौरान विकसित हुए अस्वाभाविक सम्बन्धों की छानबीन करना था न कि वर्गों एवं श्रेणियों के हितों की दृष्टि से रणनीति तैयार करना था, परन्तु अंग्रेजों से असहयोग की नीति या स्वदेशी आन्दोलन में विसंगतियाँ थीं और विभिन्न श्रेणियों के लोगों के बीच राष्ट्रीय हित की जगह वर्ग एवं श्रेणियों के हित का महत्त्व काफी हद तक कायम था, इसे स्वीकारा जा सकता है। इसके बावजूद अव्यापारिक श्रेणियों की अवधारणा हास्यास्पद है। जमींदार, किसान, मजदूर एवं सरकारी कर्मचारियों को एक ही अव्यापारिक श्रेणी में रखना सामाजिक यथार्थ से मुंह मोड़ने का उदाहरण है। कुल मिलाकर शुक्लजी का यह लेख उन्हें नरमपंथियों के समूह में शामिल करता है, जबकि वे खुद को तिलक की परम्परा से जोड़ते हैं और गांधीजी को एक तरीके से तिलक महाराज के विरोधी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अत: शुक्लजी के वैचारिक प्रेरणा की छानबीन करना आवश्यक है।

यह ठीक है कि शुक्लजी पर बंगाल रेनेसाँ का प्रभाव नहीं था, परन्तु बंगाल में जो नवजागरण हुआ वह एक जटिल सांस्कृतिक घटना थी। यदि इसकी एक प्रवृत्ति के प्रवक्ता राममोहन राय और उनका 'ब्रह्म समाज' था तो दूसरी प्रवृत्ति के प्रवक्ता लाहिड़ी महाशय एवं उनके शिष्य श्री युक्तेश्वर गिरी और उनके शिष्य परमहंस योगानन्द थे; तीसरी प्रवृत्ति के प्रवक्ता विशुद्धानन्द सरस्वती एवं गोपीनाथ कविराज थे; चौथी प्रवृत्ति के प्रवक्ता शृंगेरी पीठ से जुड़े स्वामी तोतापुरी महाराज एवं उनके 'शिष्य' रामकृष्ण परमहंस थे; पाँचवीं प्रवृत्ति चैतन्य महाप्रभु की परम्परा थी, जिसके समकालीन प्रतिनिधि प्रभुपाद रहे हैं। इसके अलावा बंगाल में तंत्र की परम्परा रही है, जिसकी प्रतिनिधि रामकृष्ण के समय में भैरवी ब्राह्मणी थीं और हमारे समय में आनन्द मार्ग के संस्थापक आनन्दमूर्ति प्रभात रंजन सरकार रहे हैं। इसके अलावा बंकिम, विद्यासागर, विपिनचन्द्र पाल, स्वामी विवेकानन्द एवं रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे व्यक्ति रहे हैं जो जुड़े चाहे जिस भी साम्प्रदायिक परम्परा से रहे हों, परन्तु व्यक्तित्व एवं कृतित्व में काफी हद तक मौलिक एवं स्वतंत्र चिन्तक माने जा सकते हैं।

ठीक उसी प्रकार से मराठी परम्परा भी इकहरी नहीं है। यदि मराठी पहचान को सन्त ज्ञानेश्वर और वारकरी सम्प्रदाय ने निवृत्तिमार्गी एवं मोक्षकामी स्वरूप प्रदान किया तो समर्थ रामदास एवं शिवाजी महाराज ने प्रवृत्ति मार्ग एवं परम ऐश्वर्य को यथाचित महत्त्व दिया। महादेव गोविन्द राणाडे यदि भक्ति मार्गी एवं सुधारवादी थे तो अगरकर नास्तिक एवं सुधारवादी थे। तिलक महाराज पश्चिमी अर्थों में 'एग्नॉस्टिक' परन्तु परम्परावादी थे—कुछ पूर्व मीमांसा दर्शन एवं सांख्य दर्शन के बीच की भाव-भूमि पर। वे घोषित रूप से शंकराचार्य एवं ज्ञानेश्वर के बीच का रास्ता तलाशना चाहते थे। तिलक महाराज ने तीन प्रमुख ग्रन्थों की रचना की है—वेदांग ज्योतिष पर 'ओरियन' नामक पुस्तक उन्होंने 1892 में लिखी थी, जो 1893 में प्रकाशित हुई थी और 'दि आर्कटिक होम इन द वेदाज' 1902 में प्रकाशित हुई थी। ये दोनों पुस्तकें उनके वैदिक साहित्य के गहन अध्ययन की परिचायक हैं तथा अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थीं। तीसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'गीता रहस्य' 1910 में लिखी गई थी और 1911 में (मराठी संस्करण) प्रकाशित हुई थी।

इसका हिन्दी अनुवाद 1917 में प्रकाशित हुआ था, जबकि शुक्लजी का उपरोक्त लेख 1922 में प्रकाशित हुआ था।

1920 में तिलक महाराज की मृत्यु हो चुकी थी और महात्मा गांधी राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के सर्वप्रमुख व्यक्ति बन चुके थे। कांग्रेस 1906 से गरम दल एवं नरम दल में आन्तरिक रूप से विभाजित थी, परन्तु गरम दल में कई तरह के लोग थे—विपिनचन्द्र पाल, लाजपत राय, मदनमोहन मालवीय, अरबिन्दो घोष, सावरकर, मुंजे, केलकर, हेडगेवार एवं रामचन्द्र शुक्ल को एक अर्थ में गरम दल की तिलकवादी विचारधारा से जुड़ा माना जाता है, परन्तु तिलकवादी विचारधारा और तिलक की व्यक्तिगत विचारधारा में बुनियादी अन्तर है। तिलक के जीवन में ही गांधी ने खुद को तिलक की विरासत का उत्तराधिकारी माना था और तिलक महाराज ने गांधी के सत्याग्रह को आशीर्वाद एवं उनके खिलाफत आन्दोलन को शुभकामना प्रदान की थी।

23 जुलाई, 1921 को गांधीजी ले लिखा है, "मेरा बहुत विन्रम दावा है कि मैं उनके (तिलक) संदेश को देशवासियों तक उतनी ही अच्छी तरह पहुँचाने का प्रयत्न कर रहा हूँ, जितनी अच्छी तरह उनके अच्छे-से-अच्छे शिष्य पहुँचा सकते थे। तिलक को मेरी पद्धति में अविश्वास नहीं था, मुझे उनका विश्वासपात्र होने का सौभाग्य प्राप्त था। तिलक महाराज ने मुझसे कहा था कि तुम्हारा मार्ग बहुत उत्तम है, शर्त यह है कि जनता को उसे अपनाने के लिए राजी किया जा सके, किन्तु उन्होंने यह भी कहा कि मेरी अपनी शंकाएँ हैं।" अत: गांधीजी को तिलक का विरोधी एवं शुक्लजी को तिलक का अनुयायी मानना हिन्दी साहित्य में नामवर सिंह जैसे कुछ लोगों को चाह जितना प्रिय लगता हो यह तथ्यों पर आधारित वर्गीकरण नहीं माना जा सकता। रामचन्द्र शुक्ल सम्भवत: केलकर के प्रभाव में गांधी को तिलक का विरोधी मानते थे।

महात्मा गांधी निवृत्ति मार्गी ही माने जाते हैं। वे स्वतंत्रता आन्दोलन के नायक एवं लोकजागरण की प्रेरणा माने जाते हैं, परन्तु विनोबा जैसे कुछ अनुयायियों को छोड़कर उनके अनुयायियों ने भी उन्हें प्रमाण नहीं माना। एक व्यक्ति के रूप में गांधी को महान आत्मा माना गया परन्तु उनके विचारों को इस देश ने बहुत महत्त्व नहीं दिया। भारत की तुलना में पश्चिम में गांधी की लोकप्रियता एक मौलिक चिन्तक के रूप में ज्यादा है। भारतीय सन्दर्भ में

गांधी को भक्तिमार्गी माना जाता है, जबकि तिलक को ज्ञान मार्गी चिन्तक माना जाता है। एक लेखक के रूप में गांधी की सबसे महत्त्वपूर्ण कृतियाँ आत्म कथात्मक है। (माई एक्सपरिमेंट विथ ट्रुथ; सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका) जबकि उनकी सबसे लोकप्रिय पुस्तक 'हिन्द स्वराज' उपनिषदों की शैली में एक सभ्यता मूलक संवाद है। दूसरी ओर, तिलक महाराज की तीनों पुस्तकें विशुद्ध रूप से दार्शनिक एवं अकादमिक पुस्तकें हैं। वे हिन्दू शास्त्रों एवं भारतीय दर्शन के काफी व्यवस्थित विद्वान थे जबकि गांधीजी को संस्कृत नहीं आती थी। उनकी जानकारी या ज्ञान का स्रोत हमेशा उनकी अनुभूति एवं ध्यान से छनकर आती थी। गांधीजी जैन प्रभाव वाले सनातनी वैष्णव थे, जबकि तिलक महाराज मूलत: पूर्वमीमांसा, सांख्य, वेदांत, ज्योतिष एवं नीतिशास्त्र से प्रभावित थे। हिन्दू कानून के अध्येता होने के कारण गौतम बुद्ध, नागार्जुन, शंकराचार्य एवं समर्थ रामदास की मिली-जुली परम्परा में वे निर्गुण, कर्मवादी एवं संगठित धर्म के नजदीक माने जायेंगे। गणेश उत्सव एवं कर्मवादी कृष्ण को उन्होंने युग धर्म का मानदंड बनाया।

तिलक महाराज की तुलना में शुक्लजी सम्भवत: राणाडे के विचारों के ज्यादा नजदीक थे। राणाडे की पुस्तक 'मराठा शक्ति का उत्थान' सन् 1900 में प्रकाशित हुई थी। इसमें एक अध्याय है—'महाराष्ट्र के सन्त तथा पैगम्बर'। इस पुस्तक में उन्होंने प्रतिपादित किया कि मराठा स्वराज के दो आधार स्तंभ थे—धार्मिक और सामाजिक सुधार एवं शिवाजी का सैनिक एवं राजनीतिक नेतृत्व। राणाडे धार्मिक एवं सामाजिक सुधार की परम्परा का आरम्भ सन्त ज्ञानेश्वर की रचना ज्ञानेश्वरी से मानते थे। मराठी भक्ति एवं आध्यात्मिक परम्परा की राणाडे द्वारा प्रस्तुत व्याख्या एवं शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत भक्ति साहित्य के विश्लेषण में आश्चर्यजनक समानताएँ हैं। राणाडे की दूसरी पुस्तक 'महाराष्ट्र में रहस्यवाद' प्रकाशित तो 1933 में हुई थी, परन्तु इस पुस्तक में वर्णित उनके विचार 1901 में उनकी मृत्यु के काफी पहले से लोकप्रिय थी। शुक्लजी ने छायावाद की आलोचना के क्रम में रहस्यवाद पर गम्भीर विचार किया है। यहाँ भी राणाडे के विचारों से शुक्लजी के विचारों की तुलना शिक्षाप्रद हो सकती है।

गांधीजी जानते थे कि इस देश में केवल बंगाल एवं महाराष्ट्र की परम्परा भर नहीं है। कश्मीर शैव-दर्शन की परम्परा, पंजाब की सिक्ख तथा आर्य समाजी

परम्पराएँ, काशी की परम्परा, मथुरा-वृंदावन की परम्पराएँ भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं। दरअसल मोटे तौर पर भारतीय परम्परा के तीन स्वरूप देखने को मिलते हैं— 1. प्रवृत्ति मार्गी परम्पराएँ, 2. निवृत्तिमार्गी परम्पराएँ, 3. गौतम बुद्ध एवं शंकराचार्य की परम्परा।

वैदिक धर्म से जूड़ी परम्पराएँ मूलत: प्रवृत्ति मार्गी रही हैं। जैन धर्म से जुड़ी परम्पराएँ मूलत: निवृत्ति मार्गी रही हैं। उपनिषदो/वेदान्त की परम्परा मूलत: निवृत्ति मार्गी कही जा सकती है। प्रवृति मार्ग से जुड़ी परम्पराएँ राज्य सत्ता एवं लोक सत्ता (स्टेट एण्ड सिविल सोसाइटी) दोनों स्तरों पर जीवन एवं चिन्तन को सृजनशील बनाये रखती हैं। निवृत्ति मार्ग में व्यक्तिगत मुक्ति के लिए उपासना को व्यवस्थित करना सम्प्रदायों का मूल लक्ष्य होता है, इसमें सामुदायिक अभियान प्रमुख नहीं होता। गौतम बुद्ध की परम्परा गहरे अर्थ में वैदिक परम्परा से भी ज्यादा प्रवृत्ति मार्गी है। इसमें राज्य संगठन एवं लोक सत्ता में द्वैत नहीं है। गौतम बुद्ध की प्रेरणा से सम्प्रदाय (लोक) को ही राज्य की तरह संगठित किया गया। मठों एवं अखाड़ों तथा बिहारों के संगठन, सिद्धान्त या शासन सूत्र मूलत: प्रवृत्ति मार्गी हैं। जैनों का मार्ग (श्रमण मुक्ति का मार्ग) संन्यास मार्ग था। जैन धर्म में मुनि निश्चित रूप से गृहस्थ से श्रेष्ठ कहा जा सकता है। वैदिक धर्म मूलत: गृहस्थ धर्म है। अत: संन्यासी का निवृत्ति मार्ग एवं गृहस्थ का प्रवृत्ति मार्ग इन दोनों में द्वैत था। भगवान कृष्ण ने इन्हें समान धर्मी बनाया, समानंतरता की बात की। गौतम बुद्ध, नागार्जुन एवं शंकराचार्य ने तो संन्यासियों को एक प्रकार के वैकल्पिक गृहस्थ धर्म के रूप में संगठित किया। संन्यासी के लिए केवल व्यक्तिगत साधना करना अनुचित माना जाने लगा। बिहार में, मठों में एवं अखाड़ों में सामूहिक साधना शुरू हुई। इस सूत्र को समझना आवश्यक है। इसको समझने में शुक्लजी के कई निबन्ध मदद करते हैं। भारत की प्रवृत्ति मार्गी परम्परा को समझने के लिए प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा, हवेन सांग, मेगास्थनीज का भारत वर्षीय वर्णन की भूमिका, भारत के इतिहास में हून, महाराज कनिष्क का स्तूप, भारतीय शिल्प कला, प्राचीन भारत का एक शक निबन्ध उपयोगी है। 'हिन्द स्वराज' और महात्मा गांधी को समझने में भी शुक्लजी के निबन्धों से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष मदद मिल सकती है। आधुनिक भारतीय जीवन-मूल्य के निर्माण में पश्चिमी परम्परा, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, साहित्य-मनोविज्ञान आदि

की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। आधुनिक विश्वविद्यालयों में भारतीय परम्परा को पश्चिमी दृष्टि से देखने का चलन रहा है। विश्वविद्यालयों में यह भी माना जाता है कि भारतीय समाज के सामने केवल एक विकल्प है—पश्चिम की नकल करना। पश्चिम की नकल करने का तो कोई विकल्प नहीं माना जाता, परन्तु पश्चिम परस्त भारतीयों में दो सम्प्रदाय विकसित हो गये हैं—

1. भारत को मूलत: पश्चिम से ज्ञान-विज्ञान सीखना चाहिए और पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान तथा भारतीय धर्म के बीच सामंजस्य स्थापित करना चाहिए।
2. भारत को पश्चिम से मूलत: धर्म-मूल्य एवं नैतिकता सीखनी चाहिए। नैतिकता के तहत धर्म निरपेक्षता, प्रजातंत्र एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसे मूल्य शामिल है।

इस सन्दर्भ में शुक्लजी ने अपने लेख 'भारत को क्या करना चाहिए' में लिखा है कि "प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति द्वारा कोई विशेष परिणाम प्राप्त करने के लिए अपनाये गये तरीके के सामर्थ्य में विश्वास होना चाहिए, खासकर ऐसे परिणाम, जो आगे चलकर एक बड़े सामान्य लक्ष्य का अनिवार्य अंग होने जा रहा हो। लेकिन जिस क्रम में हमें आगे बढ़ना है, वह हमारी आँख से ओझल नहीं होना चाहिए। महत्त्व के लिहाज से जिस चीज पर हमें सबसे पहले ध्यान देना चाहिए, वह है सामाजिक बुराइयों को दूर करने का काम, क्योंकि इनका असर सीधे उस सामाजिक स्रोत पर पड़ता है, जहाँ से हमें प्रत्येक क्षेत्र में काम करने के लिए कार्यकर्ता प्राप्त होते हैं। वस्तुत: प्रत्येक भारतीय को यह साफ-साफ पता होना चाहिए कि उनका देश दिन-ब-दिन और गरीब क्यों होता जा रहा है? अगर आप चाहें तो इसे राजनीतिक शिक्षा भी कह सकते हैं। इस प्रकार की शिक्षा देने के लिए हमें विभिन्न तरीके और साधन अपनाने चाहिए। भारतीय जनमानस को एक सामंजस्यपूर्ण धरातल पर लाने में देशी भाषा के बढ़ते हुए साहित्य की जो भूमिका है, उसकी शायद हम उपेक्षा नहीं कर सकते।" शुक्लजी के इन विचारों का स्वर 'हिन्द स्वराज' के स्वरों का समानधर्मी भी है और पूरक भी। अत: गांधीजी और शुक्लजी को एक-दूसरे का विरोधी न मानकर तत्कालीन भारत के वैचारिक-सांस्कृतिक द्वंद्व, दुविधा एवं संघर्ष का प्रवक्ता मानना ही ज्यादा सही है।

रामचन्द्र शुक्ल तुलसीदास और रामभक्ति के हिन्दी में पहले आधुनिक व्याख्याकार हैं। तुलसीदास और 'रामचरितमानस' उनका साहित्यिक मानक था। वे अध्यात्म एवं निरा उपयोगितावाद, दोनों को अस्वीकार करते हैं। तुलसीदास की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि वीरता, प्रेम आदि जीवन का कोई एक ही पक्ष न लेकर उन्होंने सम्पूर्ण जीवन और उसके भीतर आने वाली अनेक दशाओं के प्रति अपनी सन्तुलित एवं समन्वयवादी दृष्टि को प्रस्तुत किया है। एक ओर, गांधीजी के ईष्टदेव राम थे। दूसरी ओर, सनातन हिन्दू धर्म की जो व्याख्या गांधीजी बार-बार प्रस्तुत करते रहे वह व्याख्या शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत 'तुलसीदास' और 'रामचरितमानस' के सनातन धर्म का ही समानधर्मी है। तीसरा, राणाडे और गोखले की तरह गांधीजी को भी कुछ लोग नरम दल का ही प्रतिनिधि मानते हैं। महात्मा गांधी के बारे में जे.पी.एस. उबेरॉय, धर्मपाल एवं पुषराज जैन जैसे विद्वानों द्वारा प्रस्तुत व्याख्या को यदि सही माना जाय तो गांधीजी के हिन्द स्वराज, चरखा, बुनियादी शिक्षा, सर्वोदय और अन्त्योदय एवं सनातन धर्म तथा सभ्यता की अवधारणओं के केन्द्र में व्यावसायिक श्रेणियों का हित या दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नहीं है, बल्कि इस देश के आम आदमी खासकर कामीन/बलुतेदार जैसी सेवा करने वाली जातियों (सर्विस एंड प्रोफेशनल कास्टस) का हित है। अव्यावसायिक श्रेणियों के अन्तर्गत देश की अधिकांश जातियाँ और लोग आते हैं, जिनके हितों, दृष्टियों एवं जीवन पद्धति में गुणात्मक अन्तर है। इस दृष्टि से शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत गांधीजी का मूल्यांकन एक पक्षीय और असन्तुलित लगता है।

इसके बावजूद केवल भारतीय परम्परा ही नहीं गांधी की विरासत के निष्पक्ष मूल्यांकन में भी शुक्लजी के लेखों से काफी मदद मिल सकती है। भारतीय परम्परा का जो रूप शुक्लजी के समय में उपलब्ध था, उसकी व्याख्या के साथ-साथ उसके भविष्य को लेकर उस समय के चिन्तकों में गम्भीर मतभेद था। शुक्लजी ने उन्हीं मतभेदों की सार्वजनिक चर्चा की जिसकी अभिव्यक्ति ज्यादातर लोग व्यक्तिगत जीवन या अनौपचारिक बैठकों में उन दिनों किया करते थे।

शुक्लजी ने तत्कालीन सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है— "ईस्ट इंडिया कम्पनी के रूप में घृणित वाणिज्यवाद ने भारत में कदम रखा और समाज के द्विस्तरीय विभाजन के आधार पर जो सामंजस्य इतने दिनों

से चला आ रहा था, उसे अस्त-व्यस्त कर दिया। कम्पनी अपने व्यापारिक प्रचार-प्रसार के लिए बनियों पर आश्रित थी। इसलिए उन्होंने केवल उन्हीं के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न की। कम्पनी के गुमास्ता और ऐजेंट की हैसियत से अधिकतम लाभ कमाने के अतिरिक्त उन्होंने अपने क्रय के लिए ही दूसरों से खाली करायी गयी जमीन भी हासिल कर ली। बड़े क्षेत्र के राजस्व का कार्यभार उन्हें सौंपा गया, वे ही दीवान बनाये गये।" बर्क ने अपनी पुस्तक 'हेस्टिंग्स का इंपीचमेन्ट' में इस स्थिति का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। भूमि से कृषक श्रेणियों के सम्बन्ध का स्थायित्व सदा के लिए लुप्त हो गया और वे उत्तरोत्तर बढ़ती कंगाली की अवस्था में छोड़ दिये गये। लोभी वकीलों की सेना के साथ न्यायालयों ने उनकी बर्बादी पूरी कर दी। कानूनी जटिलताओं के कारण मुकदमा भूमिगत हितों का ऐसा अपरिहार्य लक्षण हो गया है कि सरकारी माँगों के भुगतान के बाद औसत जमींदार के पास कुछ शेष नहीं बचता। सरकारी भू-राजस्व नीति बहुत हद तक जमीन के सच्चे अधिकारी एवं कृषक श्रेणियों की शोचनीय अवस्था के लिए उत्तरदायी है।

शुक्लजी आगे कहते हैं कि किसान और जमींदार के बीच कोई अभेद्य दीवार नहीं है। एक किसान जमींदार हो सकता है और एक जमींदार किसान हो सकता है। वे स्वयं देख सकते हैं कि इन चीजों का वास्तविक उद्देश्य सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या को अधिक कमजोर एवं दरिद्र किसानों में इस प्रकार बदल देना है जिससे उनमें से किसी के पास सामाजिक गौरव एवं प्रतिष्ठा अर्जित करने का कोई अवसर शेष न रह जाये। शहरी व्यावसायिक भद्रता को ही देश में एक मात्र भद्रलोक माना जाने लगा है। अभी यह देखना बाकी है कि भारत जैसा कृषि प्रधान देश इसे कैसे सहन कर सकता है। गाँव की जनसंख्या में जमींदार, किसान और मजदूर होते हैं। इन तीनों में सर्वाधिक अनभिज्ञ और सहज-विश्वासी मजदूरों की अधिकांश जनसंख्या के बीच आन्दोलनकारी अपने उत्तेजक भाषणों से सबसे अधिक अशान्ति उकसाने में व्यस्त रहे हैं। वस्तुत: उनकी आतंकवादी एवं बर्बर गतिविधियों से किसान और जमींदार समान रूप से उत्पीड़ित हुए हैं। जमींदार शब्द से हम प्राय: बड़े भूमिपति का अर्थ लेते हैं और उन छोटे काश्तकारों के विषय में कभी नहीं सोचते जो अपनी कुलीनता के प्रति जागरूक होते हुए भी अपनी न्यून आय में बड़ी कठिनाई से अपना जीवन निर्वाह कर पा रहे हैं।

पिछड़े वर्गों के हितों को ध्यान में रखते हुए वे कहते हैं कि स्पष्टत: देशी शासक वर्ग ने अपने जनतांत्रिक चरित्र को सिद्ध नहीं किया। समय आ गया है जब रियासत के प्रमुख अपने समस्त राष्ट्रीय आदर्शों के साथ सामने आयें और स्वयं को जनता की सुख सुविधा के लिए समर्पित कर दें, जिससे लोक निन्दा के लिए कोई आधार न मिले। उन्हें अपने चारों ओर जनतांत्रिक कार्यप्रकारों (डिमोक्रेटिक बुल वर्क्स) का विकास करना चाहिए और सरकार के उस स्वरूप का पर्याप्त प्रमाण करना चाहिए जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। अपने उदात्त आचरण के उदाहरण से उन्हें यह दिखा देना चाहिए कि शक्ति और अधिकार के साथ शील, समानता, करुणा, क्षमाशीलता, नि:स्वार्थता एवं अन्य उच्च गुण किस प्रकार चमक सकते हैं। देशी रियासतों की जनता को भी व्यक्तित्त्व के मशीनीकरण के प्रति अपने को सावधान रखना चाहिए। पाश्चात्य शिक्षा ने हमारे नवयुवकों के मस्तिष्क को वैयक्तिक स्वतंत्रता के विचारों से भर दिया जो अधिकांश स्थितियों में इतने अस्पष्ट एवं असन्तुलित हैं कि वे सामाजिक एवं नैतिक अनुशासन के सम्पूर्ण बोध को निष्प्रभ कर देते हैं। उनके लिए अधिकार का अस्तित्व पारिवारिक, सामाजिक या राजनीतिक किसी भी क्षेत्र में और किसी भी रूप में घुणास्पद है। सच्ची एवं सृजनात्मक राष्ट्रभक्ति के स्वस्थ विकास के साथ यह भावना सम्पूर्णत: असंगत है। शिक्षा क्षेत्र के हमारे नवयुवकों को यह समझ रखना चाहिए कि देश में कोई भी संवैधानिक व्यवस्था लागू हो, किसी राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का सत्ता में समस्तरीय अधिकार नहीं हो सकता है। हमने यह सोचने की आदत डाल ली है कि जमीन से जुड़ी श्रेणियाँ शिक्षित लोगों के क्रिया-कलापों पर निरन्तर अंकुश के रूप में कार्यरत हैं। शुक्लजी बलपूर्वक कहते हैं कि जमीन से जुड़ी श्रेणियाँ नगर के कोठीवालों की तुलना में ये दूसरों का कहीं अधिक ध्यान रखते हैं तथा स्वार्थपूर्ण प्रभावों के प्रति कहीं कम नमनशील हैं।

उपरोक्त उद्धरणों को 'हिन्द स्वराज' के अध्यायों के साथ मिलाकर देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी की चिन्ता और गांधीजी की चिन्ता काफी कुछ समान है। दोनों अंग्रेजी राज में भारत की दुर्दशा से मुक्ति के लिए जिन्दगी भर अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी दृष्टि से प्रयासरत रहे। लेकिन भारत जैसे विविधता वाले बड़े देश में किसी एक व्यक्ति की दृष्टि या विचार प्रणाली से सारी समस्याओं के विश्लेषण और उनके समाधान के

लिए चिन्तन के क्रम में कुछ असहजता, असंगति एवं विसंगति का आ जाना या दिखना अस्वाभाविक नहीं है। फलस्वरूप लोकमंगल के प्रति समर्पित दो व्यक्तियों में भी मतभेद हो सकता है।

लोकमंगल की अवधारणा भारतीय परम्परा के प्रवृत्तिमार्गी स्वरूप का युगानुकूलन है। जो तिलक के लिए लोक संग्रह है तथा गांधी के लिए सर्वोदय है वह शुक्लजी के लिए लोकमंगल है। तिलक महाराज ज्ञानमार्गी थे। गांधीजी भक्तिमार्गी थे और शुक्लजी कर्ममार्गी थे। तिलक महाराज ने शास्त्र गढ़ा—शात्रीय वैदिक परम्परा का युगानुकूलन किया। अपने अन्तिम अर्थों में तिलक महाराज समर्थ रामदास की तरह राजसत्ता का भारतीय दृष्टि से नियमन करना चाहते थे। महात्मा गांधी का मूल उद्देश्य लोकसत्ता को राजसत्ता से स्वायत्त बनाना था। तिलक महाराज ने नारा दिया था 'स्वराज हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है'। उनका जोर राज्य था। उनकी चिन्ता राज्य की ब्रिटिश अवधारणा को चुनौती देना या व्यक्ति की तुलना में राज्य को नियमित करना नहीं था। जबकि 'हिन्द स्वराज' में गांधी का उद्देश्य 'स्वराज' था। उसमें जोर 'स्व' पर था। इसमें गांधीजी उस सनातन भारतीय सभ्यता के सूत्रों का युगानुकूलन कर रहे थे जिसमें सभ्यता का केन्द्र राजा या राज्य नहीं था बल्कि धर्म और अपनी आत्मा को पहचान चुका स्वायत्त व्यक्ति था। वे राज्य की सर्वोच्चता को सभ्यता के लिए परमावश्यक नहीं मानते थे। सभ्यता के कई केन्द्रों में धर्म के वाहक के रूप में, राज्य भी एक केन्द्र था, परन्तु जीवन का मानदंड गांधी के लिए राज्य या राजनीति से निर्धारित नहीं होता था।

रामचन्द्र शुक्ल की चिन्ता अलग थी। यह उनकी व्यक्तिगत चिन्ता नहीं थी। हिन्दी भाषी समाज के प्रतिनिधि के रूप में उनकी सर्वप्रमुख चिन्ता हिन्दी भाषी क्षेत्रों के लोक जागरण को साहित्य के प्रतिमान द्वारा नियमन करने की चिन्ता थी। अंग्रेजी राज में व्यापार के जितने बड़े केन्द्र थे, वे सभी के सभी हिन्दी भाषी क्षेत्र के बाहर थे—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, सूरत इत्यादि। हिन्दी भाषी क्षेत्र में राजा-रजवाड़े-सामन्त अंग्रेजी राज के साथ सहयोग करना चाहते थे। आधुनिकता की पश्चिमी शैली की अपनी समस्याएँ रही हैं। और अपना अन्तर्विरोध रहा है। परम्परा की भी अपनी समस्याएँ होती हैं और अपना अन्तर्विरोध होता है। शुक्लजी की अंग्रेजी राज के विरुद्ध असहयोग के गांधीवादी आग्रह से जो असहमति है वह तो गोखले, राणाडे, मेहता जैसे

नरमपंथियों, सुधारवादियों से मिलती-जुलती है। जबकि गांधी का असहयोग तिलक और श्रीअरबिन्दो घोष के स्वदेशी-स्वराज के गरमपंथी राष्ट्रवाद के अनुकूल था। वर्गहित एवं राष्ट्रहित में राष्ट्रहित को सर्वोपरि मानने की परम्परा यहाँ याद करने की जरूरत है। यह अकारण नहीं है कि लोकमंगल का मानक शुक्लजी 'रामचरितमानस' से लेते हैं। 'रामचरितमानस' का मानक राजतंत्र से आता है। राजतंत्र का लक्ष्य लोकमंगल हो सकता है, परन्तु वह है राज्य-केन्द्रित एवं राजा केन्द्रित ही। जब तुलसी ने मानस की रचना की थी तो अकबर का मुगलिया राजतंत्र था। इसके विकल्प में तुलसी त्रेता युग की राज्य-व्यवस्था से प्रेरणा लेते हैं।

भारत जैसे सभ्यता-मूलक समाज के सभी पक्षों का प्रामाणिक ज्ञान यदि इतना सरल होता तो प्राचीन काल से ही परम्परा में नौ प्रकार के वैध दर्शन प्रणाली की क्या आवश्यता थी? अत: शुक्लजी की कुछ स्थापनाओं या उनकी कुछ व्याख्याओं से असहमत होना स्वाभाविक है, परन्तु समाज या साहित्य को समझने के लिए शुक्लजी ने जो साधना की है, उसको नजरअन्दाज करके हम अपना ही अहित करेंगे। शुक्लजी के पास भारतीय संस्कृति, इसकी समस्याओं एवं समाधन की दृष्टि से कोई फार्मूला नहीं है। ऐसे भी भारतीय परम्परा के बारे में फार्मूला देने में सावधान रहने की आवश्यकता है। भारतीय परम्परा अत्यंत प्राचीन और विविध है।

महात्मा गांधी बालगंगाधर तिलक और रामचन्द्र शुक्ल के बीच की कड़ी हैं। उससे भी बढ़कर वे तुलसी और कबीर के बीच की कड़ी हैं। गांधी वर्णाश्रम की नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, परन्तु वर्णाश्रम का विरोध कभी नहीं करते। तिलक भी वर्णाश्रम की नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, परन्तु ब्रेड लेबर के प्रति तिलक का गांधी जैसा जोर नहीं है। गांधी वर्णाश्रम के समर्थक तो हैं, पर वे क्षार धर्म के समर्थक नहीं हैं। वे शूद्र धर्म के समर्थक हैं।

यह ठीक है कि गांधीजी खुद बनिया थे। यह भी ठीक है कि कुछ वैश्यों से उनकी निकटता थी (बिड़ला, बजाज आदि)। यह भी कहा जा सकता है कि उनके असहयोग आन्दोलन से वैश्य वर्ग को अन्तत: लाभ ही हुआ, परन्तु शुक्लजी का आरोप अतिरंजित है। जो आरोप शुक्लजी गांधी पर लगाते हैं, वही आरोप खगोलीकरण के समर्थक स्वदेशी के समकालीन समर्थकों पर लगाते रहें हैं कि डब्ल्यू.टी.ओ. से अलग होकर हमलोग भूखे मर जायेंगे।

दरअसल गांधीजी यह मानते थे कि निवृत्ति मार्ग भी इहलोकवादी निष्काम कर्म का आधार बन सकता है, जबकि शुक्लजी प्रवृत्ति मार्गी छात्र धर्म के समर्थक थे। गांधीजी की मौलिकता इसमें थी कि वे निवृत्ति मार्ग की सामूहिक साधना को इहलौकिक निष्काम कर्म के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे। तिलक, शुक्ल और गांधी तीनों की व्यक्तिगत साधना या स्वभाव भले ही अलग था परन्तु सामाजिक विकास के लिए तीनों गीता से प्रभावित कर्मवाद के एक हद तक समर्थक माने जा सकते हैं।

यूरोपीय आधुनिकता एवं समकालीन भारतीय समाज

महात्मा गांधी ने पश्चिम को भारतीय दृष्टि से समझने की बड़ी ईमानदार कोशिश की थी। जबकि भारत में जो पश्चिम परस्त तबका है, वह ठीक से न भारत को समझता है और न ही यूरोप को। इन लोगों की यूरोप की समझ भी सतही, एकआयामी एवं किताबी है। ये लोग आम यूरोपीय लोगों की जीवन पद्धति एवं जीवन दृष्टि तथा जीवंत आस्था एवं विश्वास को नहीं समझते। आधुनिक यूरोपीय विश्वविद्यालय काफी हद तक यूरोपीय ज्ञानोदय (एनलाइटेनमेंट) केन्द्रित हैं, परन्तु यूरोपीय समाज तो ज्ञानोदय केन्द्रित नहीं रहा है। यूरोपीयन समाज में तो कई प्रवृत्तियाँ रही हैं। डेरिडा, फुको जैसे कुछ लोग अब विज्ञान केन्द्रीयता के बारे में, तर्कसंगत विवेक के बारे में तथा यूरोपीय विज्ञान के बारे में पुनर्विचार करते दिखाई देते हैं। यह प्रवृत्ति पश्चिम में उत्तर-आधुनिक काल के (1968 के) बाद धीरे-धीरे बढ़ रही है।

यूरोपीय परम्परा को विज्ञान केन्द्रित विमर्श से पूरी तरह समझा ही नहीं जा सकता। इसके लिए तो यूरोप का दर्शन, इतिहास, धर्म, कला एवं साहित्य पढ़ना पड़ेगा। इन पाँचों अंगो के सहयोग के बिना तो यूरोपीय आधुनिकता को समझना भी मुश्किल होगा परन्तु विज्ञान एवं तकनीक यूरोपीय आधुनिकता की परिभाषिक विशेषता है इसमें सन्देह नहीं है। भारतीय परम्परा में भी विज्ञान तकनीक तो होता है परन्तु यह उस प्रकार संगठित नहीं होता जैसा आधुनिक यूरोपीय समाजों में होता है। परम्परा में विज्ञान–तकनीक अपने-आप में लक्ष्य नहीं होता बल्कि साधन भर होता है। अब उत्तर-आधुनिकता वाले सवाल पूछ रहे हैं कि हमें आकाश का क्यों अन्वेषण करना चाहिए? हमें स्पेस टेक्नोलॉजी एवं न्यूक्लियर टेक्नोलॉजी क्यों चाहिए?

कुछ लोगों का कहना है कि गांधीजी पर टॉलस्टॉय का प्रभाव एक दृष्टि से निर्णायक था। टॉलस्टॉय से उन्होंने दिशा और दृष्टि दोनों लिया। उन्होंने दिशा और दृष्टि स्वेच्छा से लिया, परन्तु वे उनके धार्मिक सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं हो पाये। टॉलस्टॉय रसियन ऑर्थोडक्स चर्च द्वारा प्रतिबिम्बित पूर्वी ईसाई परम्परा के प्रतिनिधि थे। ईस्टर्न ऑर्थोडॉक्स चर्च थेरवादी बौद्ध परम्परा से मिलती-जुलती परम्परा है, जो जैन श्रमण परम्परा के नजदीक है। जैनों में मूलत: मुनि लोग ही निवृत्ति मार्गी होते हैं जबकि बौद्धों की थेरवादी परम्परा एवं पूर्वी ईसाई परम्परा में साधारण अनुयायी भी निवृत्ति मार्गी होते हैं। यह मूलत: साधना की मोक्षगामी परम्परा है।

ऐसा नहीं है कि थेरवादी बौद्ध-जैन श्रावक और पूर्वी ईसाई परम्परा के तत्त्वचिन्तन में अन्तर नहीं है, परन्तु जहाँ तक नीति निर्देश एवं जीवन पद्धति का सवाल है—समानता तो है ही। अठारहवीं शताब्दी तक आते-आते यूरोपीय ईसाईयत यूरोपीय आधुनिकता से मुख्य धारा के स्तर पर हार चुकी थी, लेकिन रूस तक पूरी तरह आधुनिक नहीं हुआ था। रसियन ऑर्थोडॉक्स चर्च की परम्परा तक काफी जीवन्त थी। मुझे नहीं मालूम कि रसियन ऑर्थोडक्स चर्च वाले धर्म परिवर्तन के मामलों में किस हद तक उत्सुक रहते हैं, परन्तु इतना तय है कि गांधीजी पराजित हो चुके रोमन कैथोलिक चर्च या यूरोपीय प्रोटेस्टैंट चर्च से बहुत प्रभावित नहीं थे। ईसा मसीह एवं सर्मन ऑन द माउंट का यूरोपीय परम्परा में तुलनात्मक रूप से केवल प्रतीकात्मक महत्त्व ही सुरक्षित था। टॉलस्टॉय की दिशा एवं दृष्टि से प्रभाव ग्रहण करके गांधीजी ने गुजराती वैष्णव परम्परा एवं भारत की गुलामी की व्याख्या की और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को एक नयी दिशा एवं दृष्टि देने का प्रयास किया।

इसके विपरीत स्वामी विवेकानन्द एवं श्रीअरबिन्दो एक हद तक यूरोपीय आधुनिकता से प्रभावित थे और इसके आधार पर इन लोगों ने भारतीय परम्परा की पुनर्व्याख्या करनी चाही। इन लोगों को यूरोपीय आधुनिकता से कोई अवधारणात्मक समस्या नहीं थी। ये लोग यूरोपीय आधुनिकता को, जो ईसाई परम्परा से निरपेक्ष हो चुकी थी। भारतीय आध्यात्मिक परम्परा से मेल कराना चाहते थे। स्वामी विवेकानन्द एवं श्रीअरबिन्दो की मृत्यु के बाद विश्व इतिहास में उपरोक्त प्रोजेक्ट को लगातार वैश्विक सफलता मिलती रही है जबकि गांधीवादी प्रोजेक्ट न यूरोप में चल पा रहा है, न रूस में और न ही भारत में।

हर जगह की मुख्यधारा में फिलहाल इस प्रोजेक्ट के लिए कोई प्रतिष्ठित जगह नहीं बची है। भारतीय विद्वानों के एक बड़े समुदाय में महात्मा गांधी को तात्त्विक अर्थों में इर्स्टन ऑर्थोडॉक्स चर्च का प्रतिनिधि माना जाता है और व्यावहारिक अर्थों में उन्हें जैन-वैष्णव परम्परा के नजदीक वाली आधुनिकता का प्रतिनिधि माना जाता है।

कुमारस्वामी और गांधी बहुत मामलों में एक जैसे माने जाते हैं, परन्तु तात्त्विक रूप से कुमारस्वामी गांधीजी की तुलना में सनातन हिन्दू/महायानी बौद्ध परम्परा के ज्यादा नजदीक (प्रवृत्तिमार्गी) माने जाते हैं। उनकी तुलना में महात्मा गांधी तात्त्विक रूप से मध्यकालीन रसियन ऑर्थोडॉक्स चर्च और रस्किन की पारम्परिक यूरोपीय कलादृष्टि से प्रभावित आधुनिक व्यक्ति माने जाते हैं। अपने स्वभाव में कुमारस्वामी प्रवृत्ति मार्गी कहे जाते हैं जबकि गांधी निवृत्ति मार्ग के ईसाई मॉडल के ज्यादा नजदीक माने जाते हैं। ऐसे ही विद्वानों का मानना है कि कुमारस्वामी में मध्यकालीन ईसाई कला एवं विचार पद्धति का उसी तरह अपनी वैधता के लिए इस्तेमाल है जिस तरह गांधी में हिन्दू धर्म की लौकिक परम्परा के स्रोतों का। इसी तर्क से, गांधीजी आधुनिक यूरोप के विरोधी थे और इसी अर्थ में अंग्रेजी राज के विरुद्ध भारत की स्वाधीनता चाहते थे।

स्वामी विवेकानन्द एवं श्रीअरबिन्दो के अनुयायियों ने महात्मा गांधी और कुमारस्वामी की उपरोक्त व्याख्या एवं सनातन धर्म और पारम्परिक सभ्यता की पुनर्व्याख्या करके इतिहास सुधारने का काम किया है, परन्तु सनातन परम्परा में इतिहास को सुधारने की कोई अवधारणा नहीं है। सनातन परम्परा में समय की चक्रीय गति किसी व्यक्ति या किसी सम्प्रदाय के लिए इतिहास सुधारने का कोई उपाय नहीं होता। दूसरी ओर, सनातन परम्परा यह भी मानती है कि एक आत्मा अपने कर्म फल को भोगने के लिए 84 लाख योनियों तक भ्रमण करती रह सकती है। हर नयी योनि में जन्म लेने पर पूर्व जन्मों के संस्कार सूक्ष्म रूप में साथ होते हैं। व्यक्ति पर जन्म काल से ही बहुत प्रकार के पर्यावरण, वातावरण, शिक्षण, प्रशिक्षण, सामाजीकरण, सांस्कृतीकरण, संवाद एवं सजग-अजग प्रेरणाओं का प्रभाव पड़ता है। अत: व्यक्ति खुद एक ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया के तहत धीरे-धीरे विकसित होता है। इसी क्रम में स्वाभाविक रूप से उसके विचार बनते बिगड़ते रहते हैं।

'हिन्द स्वराज' में महात्मा गांधी ने साफ-साफ कहा है कि हम लोग 1757 से 1857 तक अंग्रेजों से उनकी श्रेष्ठता के कारण नहीं हारे हैं, बल्कि हमने स्वेच्छा से उन्हें भारत दान में दिया है और जब हम एक स्वाभिमानी राष्ट्र के रूप में उनसे अपना देश लेने का संकल्प करेंगे, उस दिन उन्हें देश छोड़कर जाना पड़ेगा। इतिहास गवाह है कि महात्मा गांधी की बात अन्ततः सच साबित हुई।

दूसरी ओर, स्वामी विवेकानन्द और कुछ हद तक श्रीअरबिन्दो भी यह मानते थे कि अंग्रेजों ने अपने बेहतर विज्ञान एवं तकनीक के बल पर हमें जीता था और भारत के स्वर्णिम भविष्य के लिए पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान, तकनीक एवं मैनेंजमेंट आदि सीखना अत्यावश्यक है। गांधीजी ने जो कहा / लिखा वह पश्चिमी साम्राज्यवाद से लड़ने में आज हमारा सबसे प्रमुख हथियार है। जबकि स्वामी विवेकानन्द ने गुलामी के दौरान भारतीय समाज की कमजोरियों के बारे में जो कहा या लिखा तथा भारतीय समाज के विकास के लिए यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान की जो तारीफ किया, वह भारतीय परम्परा के विरोधियों के द्वारा भारत विरोध के आधार के रूप में दुरुपयोग किया जाता रहा है। इतना तक कि कुछ लोग स्वामी विवेकानन्द की कुछ बातों को सन्दर्भ से अलग करके स्वामी रामकृष्ण परमहंस की आलोचना के लिए भी इस्तेमाल करते हैं।

अपनी सारी वैज्ञानिक चमक दमक के बावजूद आज आधुनिक पश्चिमी सभ्यता अपने असन्तुलन, अपूर्णता एवं दंभ के कारण हार रही है। इससे समझौता की हर कोशिश (चाहे वह ऊपर से जितना अनुकूल दिखे) नुकसानदेह साबित होगी। उत्तर-आधुनिक दौर के सांस्कृतिक ऊहा-पोह के बाद आज पश्चिमी सभ्यता में असुरक्षा एवं निराशावाद बहुत बढ़ गया है। दूसरी ओर, चर्च-केन्द्रित एवं संगठित ईसाई धर्म की तुलना में घर-केन्द्रित एवं व्यक्ति-केन्द्रित स्वैच्छिक समुदायों एवं सम्प्रदायों की लोकप्रियता पश्चिमी सभ्यता में लगातार बढ़ रही है। बौद्ध धर्म, नव-पैगन सम्प्रदायों एवं योग-ध्यान से सम्बन्धित आध्यात्मिक समुदायों का आकर्षण भी लगातार बढ़ रहा है। श्रद्धालुओं के अभाव में कहीं-कहीं तो बड़े-बड़े विशाल गिरजाघर सूने पड़ने लगे हैं एवं नीलाम हो रहे हैं। इसके विपरीत इस्लाम धर्म के संगठित स्वरूप में पढ़े-लिखे मुसलमानों का आकर्षण बढ़ रहा है,

जिससे कई बार ईसाई धर्म एवं इस्लाम धर्म के बीच सभ्यता-मूलक संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। पश्चिमी सभ्यता पर इन प्रवृत्तियों के सम्मिलित प्रभाव का व्यवस्थित अध्ययन होना अभी बाकी है, परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि पश्चिमी सभ्यता एक सांस्कृतिक त्रासदी के दौर से गुजर रही है। वह इस त्रासदी से उबर पायेगी या नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि वह अपने वैज्ञानिक एवं तकनीकि पक्ष का अपने समकालीन धार्मिक एवं धर्म शास्त्रीय (थियोलॉजिकल) जिज्ञासाओं के साथ तात्त्विक स्तर पर कितना समन्वय कर पाती है। पश्चिमी सभ्यता के निर्माण में धर्मशास्त्र की भूमिका विज्ञान एवं तकनीक से ज्यादा रही है, परन्तु आधुनिकता के दौर में धर्म शास्त्र और विज्ञान के बीच एक अजीब प्रकार का द्वंद्वात्मक सम्बन्ध विकसित हुआ था। अन्तर्विरोध के बावजूद यूरोप का आधुनिक विज्ञान एवं यूरोप का आधुनिक धर्म (प्रोटेस्टैंट मत) एक-दूसरे को सम्बल देते रहे हैं। इसकी सबसे उत्कट अभिव्यक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका में देखी जा सकती है। आधुनिक विज्ञान एवं तकनीक का सबसे निर्द्वंद्व विकास संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ है। यूरोप की तुलना में अमेरिका के लोग ज्यादा धार्मिक माने जाते हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार करीब 92 प्रतिशत अमेरिकी लोगों ने अपने को धार्मिक माना है, जिसमें से करीब 21 से 23 प्रतिशत लोग कैथोलिक एवं 17 प्रतिशत लोग गैर-ईसाई धर्मों को मानते हैं, इसके अलावा अन्य सभी लोगों पर प्रोटेस्टैंट एवं एंग्लिकन सम्प्रदायों तथा पैगन-कल्ट्स का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव है। ये अभी गैर-कैथोलिक सम्प्रदाय किसी औपचारिक संगठन के तहत संगठित तो नहीं हैं, परन्तु यह संयोग नहीं है कि जॉन एफ. कैनेडी के अलावा कोई दूसरा कैथोलिक आज तक अमेरिका का राष्ट्रपति नहीं हो पाया है। भारत में बहुत से लोग आधुनिक विज्ञान-तकनीक एवं विश्वविद्यालयों को ईसाई धर्म की परम्परा से काटकर देखने के आदी हैं, परन्तु यह एक प्रकार का सरलीकरण है। पश्चिमी सभ्यता के समकालीन संकट का प्रभाव गैर-पश्चिमी परम्पराओं पर भी पड़ सकता है, चूँकि पिछले 200 सालों में पश्चिम ने हर परम्परा के भीतर अपने समर्थकों का एक वर्ग तैयार कर लिया है। इसी अर्थ में कुछ लोग पश्चिमी सभ्यता को वैश्विक सभ्यता कहते हैं।

भारत में भी कुछ लोग 'हिन्द स्वराज' और गांधीवादी दृष्टिकोण की तुलना में यूरोपीय आधुनिकता के मूल स्वर को भारतीय सनातन दृष्टि के ज्यादा करीब पाते हैं। स्वामी विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ जैसे व्यक्तियों को सनातन भारतीय दृष्टिकोण का ज्यादा अधिकारी प्रवक्ता माना जाता है। ज्यादातर भारतीय आधुनिकतावादियों की दृष्टि में महात्मा गांधी भारतीय परपंरा के प्रतिनिधि नहीं थे। वे यूरोप की वैकल्पिक परम्परा के प्रतिनिधि थे। वे भारतीय परम्परा-दर्शन और जीवन में सुधार चाहते थे। अंग्रेज भी भारतीय परम्परा में सुधार चाहते थे। गांधीजी खुद को हमेशा सनातनी हिन्दू कहते रहे, परन्तु उनका प्रोजेक्ट हमेशा सुधार का रहा। गांधीजी 'भारतीय परम्परा की आत्मा' में सुधार चाहते थे। जबकि आधुनिकतावादी लोग 'भारतीय शरीर' में सुधार चाहते थे। ऐसे लोग फख से कहते हैं कि गांधी में एक प्रकार का अतिवाद था, जिसे रवीन्द्रनाथ ने 'गोरा' में दिखलाया है। जबकि ब्रह्म समाज और इसकी उपज विवेकानन्द तथा रवीन्द्रनाथ में आधुनिकता और भारतीयता का सन्तुलन स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। सभ्य समाज का काम संस्थाओं-संगठनों के बिना नहीं चल सकता। ऐतिहासिक संस्थाओं की सीमा हो सकती है। उनमें सतत सुधार होता रहा है—पश्चिम में भी और भारत में भी। गांधी, इलीच, सुमाखर आदि की आलोचनाओं से सुधार की प्रक्रिया प्रभावित हुई है और आगे भी इनकी आलोचनाओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए, परन्तु इनके पास कोई वैकल्पिक दर्शन नहीं है। इनके पास एक प्रकार का अराजकतावाद/व्यक्तिवाद है, जिसे अधिक-से-अधिक रूमानी स्वप्न कहा जा सकता है। एक अन्य अर्थ में यह संन्यासियों की जीवन-दृष्टि हो सकती है। यह गृहस्थों के जीवन-दर्शन का विकल्प न रहा है, न होना चाहिए, न होगा। यह दृष्टि एकांगी है। यह दृष्टि चाहे जितना लोकप्रिय बन गयी हो पर यह तथ्यों पर आधारित नहीं है।

इस दृष्टि के विपरीत 'मेरे सपनों का भारत' (इंडिया ऑफ माई ड्रीम्स) नामक पुस्तक में गांधीजी द्वारा लिखित निबन्ध को पढने के बाद किसी के लिए भी गांधीजी को ईसाई कहना सम्भव नहीं होगा। वे एडवर्ड सईद की भाषा में प्राच्यवाद से प्रभावित हिन्दू तो कहे जा सकते हैं, पर उन्हें पश्चिमी अर्थों में ईसाई कहना ज्यादती होगी। पश्चिमी अर्थों में केशवचन्द्र सेन भी ईसाई मानदण्डों पर खरे नहीं उतरते। ये लोग ईस्टर्न ऑर्थोडॉक्स चर्च के

नजदीक या उससे प्रभावित लोग थे और इस दृष्टि से गांधी ए. के. सरण, कुमारस्वामी आदि के परम्परावाद से अलग नहीं थे। कुल मिलाकर भारत में चार प्रकार का प्राच्यवाद प्रचलित है। एक प्रकार का प्राच्यवाद एशियाटिक सोसाइटी वाले विलियम जोंस लेकर आये। दूसरे प्रकार का प्राच्यवाद मैक्स मूलर के प्रभाव में फैला। तीसरे प्रकार का प्राच्यवाद गांधीजी लेकर आये और चौथे प्रकार का एनी बेसेंट, कुमारस्वामी और श्रीअरबिन्दो लेकर आये। सत्य की परीक्षा उसके स्वरूप से होती है, उसके उद्‌गम से नहीं होती। स्वदेशी की तुलना में स्वालम्बन पर जोर सनातन भारतीय दृष्टि की विशेषता रही है। विवेकानन्द, सावरकर, गांधी, दयानन्द राममोहन राय, रवीन्द्रनाथ, श्रीअरबिन्दो सभी की चिन्ता भारत को मजबूत बनाना था। सभी अपनी-अपनी समझ से भारत की परम्परा को समझने की कोशिश कर रहे थे। सभी भारतीय परम्परा के आन्तरिक और बाह्य संकट को समझकर भारतीय परम्परा का संवर्धन करना चाहते थे या युगानुकूलन करना चाहते थे। इसमें दृष्टि भेद अवश्य था।

रोजर लिप्से की तो स्पष्ट मान्यता है कि कुमारस्वामी पर ईमाईल मेल द्वारा प्रस्तुत क्रिश्चियन आईकोनोग्राफी (ईसाई मूर्तिविज्ञान) के अध्ययन का दूरगामी प्रभाव था। विलियम मॉरिस और ईमाईल मेल का कुमारस्वामी पर प्रभाव ज्यादा था या रस्किन और टॉलस्टॉय का गांधी पर प्रभाव ज्यादा था—यह बहुत जटिल प्रश्न है। इसका उत्तर आसान नहीं है। दोनों आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के खिलाफ थे, परन्तु गांधीजी ईसा मसीह एवं ईस्टर्न ऑर्थोडॉक्स चर्च से प्रभावित माने जाते हैं, जबकि कुमारस्वामी कैथोलिक बुद्धिवाद-रहस्यवाद और इसके समकालीन प्रतिनिधियों से प्रभावित माने जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि गांधीजी अपनी ईसाई समझ का उपयोग अंग्रेजी राज के खिलाफ स्वतंत्रता आन्दोलन के अपने नेतृत्व और राजनीति एवं अर्थनीति के क्षेत्र के प्रयोगों में कर रहे थे, जबकि कुमारस्वामी अपनी ईसाई समझ का उपयोग भारतीय शास्त्रों एवं परम्परा की अधिकारी व्याख्या करने में कर रहे थे।

अत: रूढ़ अर्थों में, एक सीमा से ज्यादा न गांधीजी परम्परावादी हैं और न कुमारस्वामी और न ही श्रीअरबिन्दो। जहाँ तक ये लोग वाचिक परम्परा को अस्वीकार नहीं करते, वहीं आम भारतीयों ने इनको स्वीकारा।

आम भारतीयों का असंदिग्ध भरोसा समकालीन लोगों में सम्भवत: केवल स्वामी रामकृष्ण परमहंस तक ही सीमित रहा है। हाँ, सभ्यता-मूलक विमर्श में एक हथियार के रूप में अन्य लोगों का भी उपयोग किया गया है, परन्तु समझ बढ़ाने के लिए 'रामायण', 'महाभारत', 'गीता', 'उपनिषद्' एवं 'पुराणों' के साथ-साथ साम्प्रदायिक आचार्यों के विमर्श को ज्यादा भरोसेमंद स्रोत माना जाता रहा है।

असल में, हर शास्त्रीय परम्परा एवं सभ्यता में द्वैधवृति या एम्बीवैलेंस होता है। हर महान व्यक्ति एक रहस्यमय भाषा में अपने को अभिव्यक्त करता है। उसे दोनों प्रकार के लोग ठीक से नहीं समझ पाते—न मित्र और न शत्रु, परन्तु वह दोनों के साथ सहज होता है। इनका वर्गीकरण इतना सरल नहीं होता। एक अर्थ में ये लोकोत्तर होते हैं। गांधी, अरबिन्दो और कुमारस्वामी तीनों ऐसे ही महान लोग थे। बहुत कुछ दुर्खीम, मार्क्स और वेबर की तरह। इसमें गांधीजी और कुमारस्वामी बहुत कुछ एक जैसे थे और श्रीअरबिन्दो थोड़े अलग थे, ठीक उसी प्रकार जैसे दुर्खीम और मार्क्स बहुत मामलों में एक जैसे थे और वेबर थोड़े अलग थे।

गांधी-मार्क्स, कुमारस्वामी-दुर्खीम, सिस्टम या व्यवस्था, श्रीअरबिन्दो-वेबर, आधुनिक पूँजीवाद, प्रजातंत्र, आध्यात्मिक नीति-निर्देश अपने व्यक्तित्व के विकास के दौरान कुमारस्वामी और महात्मा गांधी ने कई तरह का एवं कई व्यक्तियों का प्रभाव ग्रहण किया, परन्तु अपने अन्तिम दिनों में कुमारस्वामी और गांधीजी दोनों काफी हद तक सनातनी हिन्दू बन गये थे। गांधीजी अपने अन्तिम समय में सनातनी जीवन मूल्यों को जीने लगे थे और उनके अन्तिम शब्द थे 'हे राम!' उसी तरह अपने अन्तिम दिनों में कुमारस्वामी भी वानप्रस्थी हिन्दू की तरह व्यवहार करने लगे थे। अपने अन्तिम लेख को उन्होंने 'ओम नमो अनन्ताय कालान्तकाय' नामक मंत्र से खत्म किया था। अत: विषय वस्तु के साथ-साथ संरचना में भी वे सनातनी हिन्दू की तरह व्यवहार करने लगे थे और बार-बार अपने को भारतीय कहने लगे थे, परन्तु इन लोगों ने अपना-अपना सनातन हिन्दूपन खोजा था। विरासत के रूप में पाया नहीं था और यह खोज पूरे जीवन की साधना का फल था। किसी गुरु के मार्गदर्शन में एक फार्मूला के तहत नहीं खोजा था। 'हिन्द स्वराज' की रचना भले ही 1909 में हुई थी, लेकिन अपने अन्तिम समय तक महात्मा गांधी की आस्था

इस पुस्तिका के सत्य एवं प्रासंगिकता के बारे में बनी रही। यदि किसी एक रचना के आधार पर महात्मा गांधी का मूल्यांकन करना पड़े तो वह रचना 'हिन्द स्वराज' ही हो सकती है, परन्तु सनातन धर्म के दायरे में किसी व्यक्ति का मूल्यांकन मात्र उसकी रचना एवं कार्य के आधार पर नहीं किया जाता, बल्कि उसकी आत्मानुभूति एवं ब्रह्मानुभूतियों की साधना एवं सिद्धि के आधार पर भी किया जाता है। फलस्वरूप एक कृति के रूप में 'हिन्द स्वराज' एवं इसके कृतिकार महात्मा गांधी की जीवनानुभूतियों को अलग-अलग करके देखना उसी तरीके से सम्भव नहीं है, जिस तरीके से पश्चिमी परम्परा में एक किताब को स्वायत्त मानकर देखा-पढ़ा जाता है।

इसी सन्दर्भ में यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि भारतीय परम्परा में जो रणनीतिक व्यावहारिकता पायी जाती है वह ऊपरी तौर पर अमेरिकी व्यवहारवाद (प्रैगमेटिज्म) के समान दिखती अवश्य है परन्तु दोनों में गुणात्मक अन्तर है। अमेरिकी प्रैगमेटिज्म का आधार यूरोप का मानवतावाद है। यूरोपीय मानवतावादी दृष्टि की तरह ही अमेरिकी दृष्टि में भी मनुष्य के रूप में व्यक्ति ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और इसमें भी व्यक्ति को परम स्वतंत्र और परम स्वायत्तकर्ता ही माना जाता है, परन्तु जब एक भारतीय व्यक्ति सांसारिक युक्ति की बात करता है या किसी किताबी सिद्धान्त के प्रति समर्पित होने के बदले अपनी अन्तरात्मा की आवाज को ज्यादा महत्त्व देता है तो वह ब्रह्माण्ड के केन्द्र में एक प्रकार की अतिमानवीय शक्ति या सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार रहा होता है। भारतीय दृष्टि में व्यक्ति इसी अतिमानवीय शक्ति की अभिव्यक्ति का एक माध्यम-भर होता है। यहाँ सांसारिक युक्ति का लक्ष्य नियति का एक प्रभावी माध्यम (सुपात्र) बने रहने के उद्देश्य से प्रेरित होता है न कि परम स्वतंत्र, स्वायत्त व्यक्ति बने रहने के मानवतावादी अहंकार से प्रेरित होता है। आदि शंकराचार्य इस रणनीतिक व्यावहारिकता को 'युक्ति' कहते थे। शंकराचार्य के अनुसार 'युक्ति' शास्त्र की व्यावहारिक अभिव्यक्ति या पूरक है। इसी 'युक्ति' का एक समकालिक अभिव्यक्ति 'जुगाड़' है। युक्ति और जुगाड़ में सहधर्मिता है।

उसी तरह उत्तर-आधुनिकतावादियों के विमर्श के केन्द्र में भी यूरोपीय मानवतावाद की ही ज्यादा उत्कट अभिव्यक्ति हुई है। उत्तर-आधुनिकतावादियों को लगता है कि आधुनिक संस्थाओं के तहत मनुष्य के रूप में एक व्यक्ति

उतना स्वतंत्र एवं स्वायत्त नहीं रह पाता जितना कि उसे होना चाहिए या जितना कि वह होने में समर्थ है। अत: बहुसांस्कृतिक विकल्प की वकालत के पीछे उत्तर-आधुनिकतावादियों का उद्देश्य व्यक्ति की मानवतावादी दृष्टि को तार्किक परिणति देना है। उनका उद्देश्य मात्र इतना होना चाहिए कि व्यक्ति को अधिक से अधिक चुनाव का अवसर मिले। उनके लिए बहुसांस्कृतिक विमर्श बाजार में उपलब्ध मनोरंजक उत्पाद-भर है, जिसका उपयोग उत्तर-आधुनिक मानव एक परम स्वतंत्र और परम स्वायत्त व्यक्ति के रूप में करता है। उत्तर-आधुनिक विमर्शों की प्रकृति एवं ईश्वरीय तत्त्व से, तात्त्विक रूप से, वही सम्बन्ध है जो आधुनिक विमर्शों का रहा है। उत्तर-आधुनिक विमर्शों के केन्द्र में भी मनुष्य ही है और उनके यहाँ भी संस्कृति की अवधारणा में प्रकृति या ईश्वर तत्त्व की कोई भूमिका पारिभाषिक रूप से अब तक स्वीकारी नहीं गई है।

इसके विपरीत भारत की हर संस्कृति के केन्द्र में ईश्वरीय तत्त्व, शक्ति या सत्ता ही मानी गई है। हर संस्कृति, मत या सम्प्रदाय इसी तत्त्व तक पहुँचने का एक माध्यम है। संस्कृति और प्रकृति परिभाषा से ही एक-दूसरे की पूरक एवं सम्बन्धित अवधारणाएँ हैं। भारत के हर सांस्कृतिक या सांसारिक विमर्श में नियति या ईश्वरीय तत्त्व की लीला या इच्छा या सृजनात्मक शक्ति ही अभिव्यक्त होती है।

इस तरह यूरोपीय सभ्यता की दोनों समकालीन प्रवृत्तियाँ—व्यवहारवाद (प्रैगमेटिज्म) और उत्तर-आधुनिकता यूरोपीय सभ्यता के पारिभाषिक दायरे से बाहर नहीं जा पाती और भारतीय सभ्यता के साथ इनका अन्तर काफी हद तक कायम रह जाता है। यूरोपीय साहित्य, संस्कृति, सिनेमा, दर्शन, समाजविज्ञान एवं धार्मिक विमर्श में मनुष्य की अवधारणा प्रकृति से स्वतंत्र एवं स्वायत्त है, जबकि भारतीय सन्दर्भ में ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में नायक का पेड़ या नायिका का लता बन जाना एवं पशु-पक्षियों द्वारा श्रेष्ठ ऋषियों को तत्त्व ज्ञान देना सामान्य घटना है। भारतीय दृष्टि से जब संसार ही एक खेल है तो सांसारिक हार-जीत, सफलता-असफलता, खुशी-गम से लेकर पूजा-पद्धति या विचाराधारा परिवर्तन भी हँसी-खेल का माध्यम है। उत्सव में या खेल में बड़ी लगन और उत्साह से मूर्ति या इमेज बनायी जाती है और पूजा की जाती है।

लेकिन खेल के बाद या उत्सव के बाद उतने ही उत्साह और उतनी ही लगन से विसर्जन कर दिया जाता है। भारतीय दृष्टि से 'खेल', 'लीला', 'उत्सव' और 'विमर्श' एक ही सभ्यता-मूलक सृजन प्रक्रिया को अभिव्यक्त करने वाली समानधर्मी अवधारणाएँ हैं। गांधीजी का 'हिन्द स्वराज' इसी प्रकार का एक सभ्यता-मूलक विमर्श है।

'हिन्द स्वराज' का महत्त्व

'हिन्द स्वराज' में गांधीजी ने अपने लम्बे संघर्ष की वैचारिक जमीन दुनिया के सामने पेश की। भारत आने के पहले ही उन्होंने सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह और सर्वोदय की धारणा विकसित कर ली थी। 1938 में आर्यन पाथ के 'हिन्द स्वराज' विशेषांक में गांधीजी ने लिखा, "यह पुस्तक अगर आज मुझे फिर से लिखनी हो तो कहीं-कहीं मैं उसकी भाषा बदलूँगा, लेकिन इसे लिखने के बाद जो तीस साल मैंने अनेक आंधियों में बिताए हैं, उनमें मुझे इस पुस्तक में बताये हुए विचारों में फेरबदल करने का कुछ भी कारण नहीं मिला।" महादेव देसाई (1938) के अनुसार 'हिन्द स्वराज' के पहले संस्करण में गांधीजी ने जो विचार जताए, उनमें कोई फेरबदल नहीं हुआ, लेकिन उनका उत्तरोत्तर विकास होता रहा।

5 अक्टूबर, 1945 के दिन जवाहरलाल नेहरू को बापू ने लिखा, "मैं इस बात से सहमत हूँ कि अगर भारत को और भारत के माध्यम से दुनिया को असली आजादी हासिल करनी है तो जल्दी या देर से इस तथ्य को समझना होगा कि हम ग्रामीण जीवन की सादगी में ही सत्य और अहिंसा का अनुभव कर सकते हैं और यह सादगी चरखा और चरखे से जुड़ी चीजों में ही पाई जा सकती हैं। मनुष्य को अपनी बुनियादी आवश्यकताओं में सन्तुष्ट रहना चाहिए। करोड़ों लोग शहरों और महलों में एक-दूसरे के साथ कभी शान्ति से नहीं रह पायेंगे। तब उनके पास हिंसा और असत्य का सहारा लेने के अलावा और कोई रास्ता नहीं रह जायेगा। सत्य और अहिंसा के बिना और कुछ नहीं, सिर्फ मानवता का विध्वंस होगा।"

गांधीजी मशीन, संसदीय लोकतंत्र, ब्रिटिश न्याय व्यवस्था, रेलवे, डॉक्टरों और आधुनिक शिक्षा के खिलाफ अपने विचारों पर बने रहे। इन माध्यमों के

द्वारा साम्राज्यवाद का जो प्रसार हो रहा था, वे उस पर चोट करना चाहते थे। बिना उपरोक्त आधार को तोड़े अंग्रेजी राज का अन्त नहीं किया जा सकता। लेकिन बतौर विकल्प भारतीय सभ्यता को पेश करते हुए भी गांधीजी भारतीय समाज की बुराइयों के आलोचक बने रहे। हिन्दू-मुस्लिम एकता शुरू से ही उनकी आस्था का विषय रहा। एक नये उदार एवं सहिष्णु भारत के निर्माण की प्रक्रिया को उन्होंने एक नयी दिशा दी।

अगर एक डॉलर प्रतिदिन आय के सरकारी मानदंड के हिसाब से देखें तो देश की 25 फीसदी आबादी गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रही है। लेकिन यदि इस गरीबी को कैलोरी उपभोग और बुनियादी जरूरतों की पूर्ति के पैमाने पर तौलें तो यह संख्या 60 फीसदी को भी पार कर जायेगी। आजादी के बाद के 60 सालों में देश में गरीबी के उन्मूलन और आर्थिक विषमता की खाई को पाटने के लिए किसी भी तरह के व्यवस्थित प्रयास नहीं किये गये। आर्थिक विकास एक उचित साध्य तक पहुँचने का साधन जरूर हो सकता है, लेकिन यह स्वयं साध्य भला कैसे हो सकता है? साध्य तो नैतिक एवं राजनीतिक आदर्शों की प्राप्ति ही हो सकती है। भारत को एक मानवीय और सद्भावना से परिपूर्ण समाज बनाने के लिए आर्थिक विकास एक अच्छा साधन हो सकता है। महात्मा गांधी यही चाहते थे। वे आधुनिक हिन्दू अध्यात्मवाद की लम्बी धारा की ही उपज और उसका विस्तार थे जिसका प्रारम्भ रामकृष्ण परमहंस से हुआ था और जिसमें श्रीअरबिन्दो और रमण महर्षि शामिल थे।

गांधीजी ने 'हिन्द स्वराज' में आधुनिक सभ्यता के विकल्प में एक ऐसी सभ्यता की परिकल्पना की थी, जहाँ स्वराज और स्वधर्म के बीच कोई अन्तर्विरोध नहीं रहता। जहाँ मनुष्य के 'स्व' में उसकी समस्त निष्ठाएँ और विश्वास तथा कर्मकाण्ड शामिल है। अत: स्वराज वह तंत्र है, जिसमें मनुष्य सिर्फ राजनीतिक या आर्थिक प्राणी न रहकर एक समग्र मनुष्य की हैसियत से भाग लेता है। इसमें मनुष्य का सम्पूर्णता बोध और प्रकृति की पवित्रता दोनों परस्पर अवगुम्फित होती है। ऐसी सभ्यता में मनुष्य का आध्यात्मिक संकट और पर्यावरण का संकट एक ही उपाय से सुलझाया जाता है। चूँकि इस सभ्यता में मनुष्य और सृष्टि का सम्बन्ध एक ओर सृष्टि को पवित्र बनाता है, दूसरी तरफ मनुष्य को सम्पूर्णता देता है। गांधी की दृष्टि में वह

स्वतंत्रता घातक साबित होता है जिसे स्वधर्म की आचार संहिता का औचित्य और संरक्षण प्राप्त नहीं होता। 'हिन्द स्वराज' में अन्तर्निहित गांधीजी की दृष्टि मानवतावाद की उस अवधारणा से बिलकुल अलग है, जिसे यूरोप सारी दुनिया पर लादना चाहता है। यूरोपीय मानवतावाद मनुष्य को सृष्टि का केन्द्र एवं एकमात्र भोक्ता मानता है, जबकि गांधीजी की दृष्टि में मनुष्य सृष्टि के 84 लाख जीवों में से एक जीव-मात्र है।

पश्चिमी संस्कृति का प्रादुर्भाव एक ऐसी खण्डित चेतना में हुआ है, जहाँ मनुष्य अपने को प्रकृति, विश्व और दूसरे मनुष्य से बिलकुल अलग पाता है। और उसे अनुभव होता है कि इस अलगाव और विभाजन को महज धार्मिक आस्था या परम्परा द्वारा नहीं पाटा जा सकता। मध्य-युग के बाद यूरोपीय व्यक्ति को पहली बार यह महसूस हुआ कि धर्म और परम्परा उसे सहारा और सान्त्वना तो दे सकते हैं, किन्तु उसके अन्दरूनी मर्म की गहरी परतों में नहीं पैठ सकते। जहाँ वह सम्पूर्ण रूप से स्वतंत्र है और अपनी स्वतंत्रता में सम्पूर्ण रूप से अकेला है। धीरे-धीरे यूरोपीय मनुष्य ने अपने को विश्व का केन्द्र-बिन्दु, समस्त चीजों का मापदण्ड मान लिया। इस दृष्टि से ईसाई कला भी धार्मिक बिम्बों के बावजूद अपनी मूल प्रेरणा में सेक्युलर है, क्योंकि एक कलाकार ईसाई धर्म के संस्कारगत प्रतीकों में भी अपने व्यक्तिगत अनुभव ही ढालने की कोशिश करता है। यह अनुभव प्रायः चर्च द्वारा दिये गये परम्परागत अर्थों से बिलकुल भिन्न होता है। वास्तव में यूरोपीय पुनर्जागरण के उदयकाल में मनुष्य के सेक्युलर और धार्मिक अनुभवों के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दी गयी। यूरोपीय संस्कृति एक ओर इस विभाजन का प्रतिबिम्ब थी, तो दूसरी ओर इसका अतिक्रमण करने की प्रक्रिया भी। इसके विपरीत भारतीय चेतना में इस तरह का कोई विभाजन नहीं रहा है। भारतीय संस्कृति एक समग्र, अखण्डत और सम्पूर्ण चेतना पर आधारित रही है। भारतीय मनीषा का निर्माण व्यक्ति के ऐतिहासिक बोध द्वारा नहीं, उन मिथकों, प्रतीकों और संस्कारों के संश्लिष्ट प्रवाह में लक्षित होता है जो इतिहास को नकारते नहीं, केवल उसकी लहरों को अपनी मूल धारा में समाहित कर लेते हैं।

केवल यहूदी-ईसाई परम्परा में भविष्य को एक निर्णायात्मक कसौटी बनाकर जीवन को उसके अनुरूप संचालित करने पर जोर रहा है। मसीहा के

आने की आशा, 'अन्तिम निर्णय' की परिकल्पना, धरती पर स्वर्ग स्थापित करने का स्पप्न—ये सब मान्यताएँ भविष्य की आस्था से जुड़ी हैं। वर्तमान केवल आँसुओं का परदा है, सत्य और सम्पूर्णता उस परदे के पीछे है—ईसाई धर्म का यह एक पुराना, मार्मिक विश्वास रहा है। भविष्य के प्रति आस्था अपनी उत्पत्ति में भले ही यहूदी-ईसाई धर्म से जुड़ी हो, किन्तु उसने यूरोपीय भावबोध पर गहरा प्रभाव डाला है। पिछली शताब्दियों में शायद ही कोई यूरोपीय क्रांतिकारी चिन्तक रहा हो, जिसने एक काल्पनिक भविष्य की मनमानी रचना न की हो। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के तमाम यूरोपीय चिन्तक (नीत्से के अपवाद को छोड़कर) इतिहास के भक्त और भविष्य के उपासक रहे हैं। भविष्य के प्रति इस अपार सम्मोहन के पीछे वर्तमान के प्रति एक गहरी अवज्ञा छिपी है। वर्तमान महज एक माध्यम या सीढ़ी या साधन मात्र रहा है, जिसका अतिक्रमण करके ही भावी स्वर्ग को प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान महज एक भ्रम है, असली यथार्थ भविष्य में सन्निहित है। इतिहास की शपथ खाकर मनुष्य को एक काल्पनिक भविष्य का गुलाम बनाना, उसके वर्तमान को घिनौना बनाकर छोड़ देना—हर कला एवं हर क्रांति का पतन यहीं से आरम्भ होता है। भविष्य की इस मरीचिका के पीछे भागता हुआ मनुष्य स्वतंत्रता के उस कस्तूरी-सौरभ को भी खो देता है, जो उसके वर्तमान की नाभि में मौजूद है और जिसे वह देख नहीं पाता। हमारे समकालीन समय में गांधीजी एकमात्र चिन्तक रहे हैं, जिन्होंने इस सत्य को बार-बार दोहराया है कि हमारा भविष्य हमारे अतीत से जुड़ा है और भविष्य तथा अतीत दोनों ही हमारी वर्तमान जीवनधारा के अंग हैं। गांधीजी के मत में यह अनिवार्य नहीं है कि पश्चिम की आधुनिक तकनीकी सभ्यता को हम जोर-जबरदस्ती अपने भविष्य पर लागू करें।

'हिन्द स्वराज' में गांधीजी ने अन्य के माध्यम से स्वयं को जानने की यूरोपीय पद्धति को उलटकर दूसरे को जान सकने की उस पद्धति को प्रतिष्ठित किया जहाँ स्वयं अपने से यह प्रश्न किया जाता है कि 'मैं कौन हूँ' और इसी के सहारे दूसरे को जानने की चेष्ठा की जाती है। गांधीजी के अनुसार भारत को आत्म के औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया से गुजर कर अपने आत्म तत्त्व को दोबारा पाने की आवश्यकता है, ताकि अपनी परम्परा के शाश्वत वर्तमान को समझा जा सके। पश्चिमी सभ्यता में प्रकृति से आत्मा

ने अपने को समेट लिया था। अपनी समूची बौद्धिक समृद्धि और वैभव के बाद भी यूरोप आन्तरिक उजाड़ की उस बंजर (वेस्टलैंड) अनुभूति से आक्रांत लगता है जो उसके काल और कला में 'बेघरपन' की अनुभूति के रूप में मुखरित हुई है। मानवीय संसार का गैर-मानवीय संसार के अलगाव यूरोपीय सभ्यता का सबसे त्रासद आयाम रहा है, जिसने जर्मन-कवि एवं वनस्पतिशास्त्री गोयटे को यह कहने के लिए विवश किया कि 'हर अलगाव में विक्षिप्तता के बीज होते हैं : हमें ध्यान रखना चाहिए कि हम उसे पनपने दें।' आधुनिक यूरोपीय कला और काव्य का एक बड़ा अंश इसी अलगाव का प्रतिबिम्ब है और इस प्रतिबिम्ब के परे जाने का प्रयास भी। यूरोप कभी अन्य को अपनी आत्मा का अंश नहीं स्वीकार सका। दूसरे से शाश्वत विलगाव की यह असहनीय पीड़ा, एक अत्यंत व्यक्तिनिष्ठ चेतना की उपज थी, जिसका अपना सत्य था। इसलिए उसने स्वयं अपना विस्तार निर्मित किया, जिसमें 'रोमांटिक प्रेम' का वह विचित्र और सूक्ष्म बोध अंकुरित हुआ जो यूरोपीय संवेदना का सबसे उल्लेखनीय पहलू है। दूसरे तक पहुँचने की चाह, दो अलग और स्वतंत्र व्यक्तियों के बीच फैली अधूरी खाई को पाटने की बेचैन आकांक्षा, जैसे ही यूरोपीय साहित्य में मुखरित हुई उसकी अनुगूँजें उसकी सांस्कृतिक सीमाओं को लाँघकर दूसरी संस्कृतियों और परम्पराओं में सुनी जा सकने लगीं। उपनिवेशवाद के दौरान पहली बार गैर-यूरोपीय उपनिवेशों में यूरोपीय साहित्य के रास्ते ही प्रेम के इस विशिष्ट आत्मसंहारी अनुभव को व्यक्तिगत नियति में चरितार्थ होते देखा और अनुभव किया गया। यूरोपीय संगीत और कविता के माध्यम से पहली बार भारतीयों ने आत्म की उस भूख से साक्षात्कार किया था जो न पूरी तरह अलौकिक (अगेप) है और न पूरी तरह शरीरी (इरोज), लेकिन दोनों में ही अपनी पूर्णता को खोजती है। रिल्के, होल्डरलीन, गोयटे, शेक्सपियर, नीत्से, हाईडेगर, विलियम मॉरिस, टॉलस्टॉय एवं जॉन रस्किन जैसे यूरोपीय कलाकारों, कवियों, नाटककारों एवं चिन्तकों ने इस पर विस्तार से विमर्श स्थापित किया है। यह महज संयोग नहीं है कि महात्मा गांधी टॉलस्टॉय एवं जॉन रस्किन से तथा आनन्द कुमारस्वामी विलियम मॉरिस से प्रभावित होकर पूर्वी सभ्यता का विमर्श प्रस्तुत करते हैं। 'हिन्द स्वराज' के सभ्यता-मूलक विमर्श को समझने के लिए आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के उपरोक्त स्वरूप को समझना आवश्यक है।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी का यूरोपीय पुनर्जागरण महज यूनानी अन्त:चेतना (प्रकृति से लयबद्ध होने की अन्त:चेतना) का पुनरुत्थान भर नहीं था। उसमें एक तरह का संशय और अवसाद भी था जो यूनानी संस्कृति के आत्मविश्वास से बहुत दूर की चीज थी। माइकल एंजिलो की सबसे अधिक सशक्त और उज्जवल मूर्तियों में भी गहरे अवसाद का भाव है, जैसे 'पत्थर' को उसकी आत्मा छोड़कर चली गई हो और वह उसके वियोग में रो रहा हो।

गांधीजी के 'हिन्द स्वराज' में इस तरह के अवसाद या डर के लिए कोई जगह नहीं है। वे कहते हैं कि विपरीत परिस्थिति में भी भारतीय सभ्यता के आम नागरिक निर्भय रहते हैं। इस निर्भयता की वजह आत्म-साक्षात्कार एवं ब्रह्म-साक्षात्कार की सांस्कृतिक प्रक्रिया और आत्म-साधना रही है। यह भारत के शिल्प एवं कला (क्राफ्ट एवं आर्ट) के अलावा संस्कृति के हर पक्ष में देखा जा सकता है।

गांधीजी एक हद तक स्वीकार करते हैं कि अंग्रेजों ने जो विविध प्रशासनिक और राजनीतिक नीतियाँ अपनाई, उन्होंने भारतीय संस्कृति को उसके उस प्राकृतिक आवास से ही उन्मूलित कर दिया, जहाँ से वह अब तक अपना अन्तर्निष्ठ स्वरूप पाती रही थी। देवी-देवता वही थे, अनुष्ठानों को पूरी मर्यादा और सम्मान से सम्पन्न किया जाता था, अतीत की स्मृति को धार्मिक त्योहारों में और जीवन की अर्थवत्ता को महाकाव्यों और पुराणों के पाठ से लगातार पुनरुज्जीवित किया जाता था, लेकिन वे सामाजिक संस्थाएँ, जिनमें हिन्दू अपने होने का तर्क पाता था और जिसके सहारे ये संस्थाएँ अदृश्य आत्मा और उसकी प्रत्यक्ष देह के बीच की अनिवार्य कड़ी साबित होती थीं। वह सेतु-स्थल यदि पूरी तरह नष्ट न भी हुए तो भी उनमें दरारें पड़ गई थीं। 'हिन्द स्वराज' का एक प्रमुख उद्देश्य इन दरारों को पाटना था, ताकि भारतीय मनुष्य की आत्मा और उसके देह के बीच फिर से सांस्कृतिक सेतु बन सके। इस उद्देश्य का निहितार्थ यह था कि भारतीय लोग अपनी परम्परा में निहित अपने दायित्वों को पूरा करते हुए मोक्ष की तलाश कर सकें एवं साथ ही इतिहास द्वारा प्रदत्त और पोषित स्वातंत्र्य का दावा करते हुए शक्ति एवं सम्प्रभुता पाने का प्रयास कर सकें।

गांधीजी ऐसा सोचने की हिम्मत इसलिए कर सके चूँकि वे जानते थे कि भारत का अतीत मिस्र और यूनान के उस अतीत की तरह नहीं था,

जिसकी प्राचीन स्मृति के टुकड़ों को विस्मृति की धूल से बचाने की आवश्यकता पड़ती। भारत का अतीत सनातन रूप से समकालीन है। कम-से-कम भारत की लोक-संस्कृति में भारत के अतीत को कभी दफनाया ही नहीं गया था जो कि उसे खोदकर निकालने की आवश्यकता पड़े। पिछले तीन हजार वर्षों में शायद ही कोई ऐसा समय रहा हो जब भारत को यवनों और मलेच्छों ने न घेरा हो। पहले यूनानियों और हूणों ने, फिर इस्लाम और उसके ठीक बाद ईसाई मिशनरियों और यूरोपीय उपनिवेशवादियों ने। भारतीय संस्कृति का अद्वितीय लक्षण यह नहीं है कि कैसे वह शताब्दियों से होने वाले निरन्तर और हिंस्र विदेशी घुसपैठों में जीवित रहती आई, बल्कि यह है कि वह उनकी प्रभुसत्ता के बावजूद किस तरह अपने को अक्षत रख सकी। महात्मा गांधी के अनुसार भारतीयों ने काफी पहले एक ऐसी आत्मनिर्भर और सूक्ष्म सांस्कृतिक व्यवस्था तैयार कर ली थी जो उनकी तमाम जरूरतों, जिज्ञासाओं का समाधान करने में सक्षम थी और उन्हें दूसरों से सीखने के लिए कुछ भी नया या आवश्यक नहीं जान पड़ा।

भारतीयों के लिए अपनी अस्मिता को परिभाषित करने का सन्दर्भ कभी 'अन्य' नहीं रहा, जैसा कि वह यूरोपीयों के लिए था। 'आत्म' को हमेशा ही आत्म सन्दर्भ रूपों में स्वीकारा गया। 'अन्य' उनकी अस्मिता के लिए न तो कोई खतरा था और न उनकी अद्वितीयता का स्रोत। 'अन्य' की अवधारणा यूरोपीय संस्कृति की अवधारणा से बहुत भिन्न था। यूरोप में 'अन्य' अपने से हमेशा अलग, एक बाहर की वस्तु, आतंक का स्रोत और आकांक्षा की वस्तु रही है। अगर यूरोपीय मनुष्य 'अन्य' को पूरी तरह अपने वश में कर लेता है तो खुद उसकी अस्मिता सन्देहास्पद हो जाती है। वह 'अन्य' को नष्ट करके ही पूर्ण होना चाहता है, लेकिन बिना 'अन्य' के वह कुछ भी नहीं रहता। दूसरी ओर, भारत में 'अन्य' की अवधारणा अलग रही है। हिन्दुओं के लिए बौद्ध 'अन्य' होते हुए भी हिन्दुओं की तमाम बुनियादी अवधारणाओं में साझा करते थे, चाहे वह मोक्ष और निर्वाण का प्रश्न हो या आत्म और शून्यता का। बौद्ध धर्म हिन्दुओं को एक दार्शनिक चुनौती मालूम देता था, जिससे वे निपट सकते थे। वे पराए होते हुए भी अपने थे और अन्ततः वे बिलकुल अपने हो गये। बौद्ध धर्म भारत में लुप्त नहीं, लीन हो गया। दूसरी ओर, इस्लाम और ईसाई धर्म अपने असंदिग्ध पराएपन के कारण आज तक संस्थाबद्ध रूप में भारत में अस्तित्ववान हैं।

आनन्द कुमारस्वामी की तरह गांधीजी को भी भारत एक तरफ यूरोप की उस मध्यकालीन सभ्यता की याद दिलाता है, जब वह विभिन्न राष्ट्रीय ईकाइयों में खंडित नहीं हुई थी, दूसरी तरफ वह एशिया, अफ्रीका की उन जातियों की संस्कृति के निकट ले जाता है जिन्हें कभी एक ऐसी सुगठित सभ्यता का संरक्षण नहीं मिला, जो भारत को उपलब्ध थी। इस दृष्टि से जब भारत ने यूरोपीय उपनिवेशवाद के दौर में आधुनिक युग में प्रवेश किया तो वह न यूरोप की तरह आत्मविभाजित था, न एशिया-अफ्रीका की जातियों की तरह संरक्षणहीन था। भारत की विभिन्न जातियाँ एवं सम्प्रदाय अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं के बावजूद एक सामूहिक सभ्यता-बोध के भीतर जीवित रह सकीं हैं। उनमें व्यवहारों और विश्वासों को एक सूत्रित करने वाला एक केन्द्रीय दर्शन, जीवन-दृष्टि का समग्रता-बोध हमेशा मौजूद रहता है। भारतीय सभ्यता बोध कोई बीती हुई याद न होकर आज भी मेंहदी की तरह हर व्यक्ति की जीवन-प्रणाली के कार्य-अनुष्ठानों में रसी-बसी है। गांधी के लिए भारत का परिदृश्य आज भी उन पौराणिक प्रतीकों, मिथकों और स्मृतियों से उतना ही सघन, अर्थपूर्ण और स्पंदनशील है, जितना मध्यकालीन यूरोप दांते के लिए या यूनान का क्लासिक युग सुकरात एवं प्लेटो के लिए था। भाषा का मिथक से वही सम्बन्ध है जैसा आदि मनुष्य का अपने देवताओं से था। दोनों ही उसकी आदिम स्मृतियों और संवेदनाओं को एक स्थायी 'रूपाकार' में परिणत करते हैं। मिथक भाषा के आदि देवता हैं। भाषा, मिथक और स्मृति का यह अन्त:सम्बन्ध ही एक समूह के सदस्यों को एक सामूहिक अस्मिता में एक सूत्रित करता है। फलस्वरूप गांधी ने काफी सोच विचार कर 'हिन्द स्वराज' के मूल पाठ की रचना गुजराती भाषा में की। भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ के बीच सेतु का काम करती है। 'हिन्द स्वराज' को समझने के लिए उपरोक्त तथ्य को समझना आवश्यक है। गांधीजी इस बात को भली भांति समझते थे कि किसी देश की संस्कृति ऐतिहासिक झंझावतों द्वारा क्षत-विक्षत भले ही हो जाये, उसका सत्य और सातत्य उसकी भाषा में बचा रहता है। एक पुरातन संस्कृति बहुत महीन और नाजुक धागों में गुंथी होती है, जिसमें यदि हम मिथक को यथार्थ से, पुराण कथाओं को दैनिक चर्चाओं से, आत्मा को उसके दैहिक परिवेश से जरा भी अलग करते हैं तो समूचा ताना-बाना टूटने लगता है। भारतीय संस्कृति का मर्म, अदृश्य सरस्वती की तरह, इन्हीं सम्बन्धों की पवित्रता में छिपा है।

महात्मा गांधी पिछले 100 वर्षों में एकमात्र भारतीय थे जिन्होंने भारतीय स्वप्न के दोनों पहलुओं को समझा और परखा था—उसका बाहरी और प्रत्यक्ष पहलू जो हमें दिखायी देता है, किन्तु उन्होंने उसके दूसरे अदृश्य पहलू को भी पहचाना था, जो शताब्दियों से भारतीय जनमानस की परतों तले दबा है जो सिर्फ इसलिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं हो जाता क्योंकि वह देखा नहीं जा सकता। गांधीजी ने प्रत्यक्ष को अप्रत्यक्ष से, दृश्य को अदृश्य से, बाहर को अन्दर से जोड़कर भारतीय अनुभव को पूरी समग्रता से जीने का प्रयास किया और 'हिन्द स्वराज' में समूचे भारतीय यथार्थ को एक अखण्डित सत्य की तरह स्वीकार किया। वह हमारे परोक्ष को प्रत्यक्ष में, हमारे विश्वास को व्यवहार में बदलना चाहते थे, ताकि हम इतिहास में अपने गौरव और अपनी शर्तों पर जी सकें। उन्होंने 'हिन्द स्वराज' में जो विकल्प सुझाया था, वह आज भी उतना ही जीवित और गौरवपूर्ण है, जितना पहले था। इसी अर्थ में 'हिन्द स्वराज' का महत्त्व आज भी कायम है।

समकालीन भारतीय समाज और महात्मा गांधी

15 अगस्त, 1947 से करीब-करीब 1990-91 तक भारतीय राज्य-व्यवस्था पर नेहरू जी का प्रभाव महात्मा गांधी की तुलना में ज्यादा रहा। देश के बँटवारे के बाद सर्शत स्वतंत्रता मिली थी। अंग्रेजों ने मुस्लिम लीग को समझाया कि स्वतंत्र भारत में मुसलमानों को हमेशा हिन्दुओं के शासन में रहना पड़ेगा अत: देश का बँटवारा मुसलमानों के हित में है। दूसरी ओर कांग्रेस के हिन्दू नेतृत्व (जवाहरलाल नेहरू, वी.के. कृष्णमेनन, तेजबहादुर सप्रु और सरदार पटेल आदि) को अंग्रेजों ने समझाया कि यदि देश का बँटवारा नहीं होता है तो स्वतंत्र भारत में प्रजातांत्रिक रूप से हमेशा मुस्लिम शासन रहेगा। मुस्लिम लीग वाले अनुसूचित जातियों के एक वर्ग (दलितों) को अपने साथ मिला लेंगे, जातियों में बँटा हिन्दू समाज हमेशा गुलाम बना रहेगा। अत: मुस्लिम लीग के बँटवारे का प्रस्ताव भारत के हिन्दुओं के लिए स्वर्ण अवसर है। गांधी 'सठिया' गये हैं। उनको अपना सभ्यता मूलक राग अलापने दो। तुम लोग अपने और हिन्दू समाज के हित को देखो। गांधी बँटवारे की कीमत पर स्वतंत्रता नहीं चाहते थे। वे दक्षिण अफ्रीका के 'सत्याग्रह आन्दोलन' के दिनों से ही (1906 से) हिन्दू-मुस्लिम एकता को जरूरी मानते थे। 1909 में लिखे 'हिन्द स्वराज' नामक अपनी बुनियादी दस्तावेज में उन्होंने केवल एक अधिकारी विद्वान को उद्धृत किया था—इस्लाम धर्म के पैगम्बर मुहम्मद को। वे पैगम्बर मुहम्मद को पारम्परिक सभ्यता के प्रतीक पुरुष के रूप में 1909 में याद कर रहे थे।

1915 के अन्त में भारत आने के बाद उन्होंने खिलाफत आन्दोलन में न सिर्फ भाग लिया था बल्कि वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के जबरदस्त हिमायती थे। वे ताल ठोक कर कहते थे कि "सबसे पहले मैं सनातनी हिन्दू हूँ और

एक हिन्दू के रूप में मेरा सबसे प्रमुख कर्तव्य है छुआछूत मिटाना। उसके बाद मैं एक भारतीय हूँ और भारतीय के रूप में मेरा सबसे प्रमुख कर्तव्य है हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करना। अन्त में मैं एक मनुष्य हूँ और एक मनुष्य के रूप में मेरा कर्तव्य है अपने पड़ोसी की सेवा करना।" पश्चिम परस्त हिन्दुओं को तथा समकालीन भारत के अकादमिक रूप से सक्षम बुद्धिजीवियों के लिए गांधीजी की उपरोक्त बातों को समझना जिन्दा सांप निगलने जैसा रहा है। असल में अंग्रेजी राज में धर्म परिवर्तन की घटना मध्यकाल की तुलना में भले ही कम हुआ हो लेकिन विचार परिवर्तन की घटना बड़ी तेजी से घटी है। भारत के अंग्रेजीदां लोगों के बीच महात्मा गांधी का सनातन हिन्दू धर्म और उनका 'हिन्द स्वराज' हमेशा से अग्राह्य रहा है। दूसरी ओर वे लोग अंग्रेजी शासन के कुप्रचार के कारण 'आधुनिक मानवतावाद' को बहुत अच्छी चीज मानते रहे हैं। असल में अंग्रेजीराज जिस उपनिवेवादी मानसिकता पर आधारित था उसका आधार 18वीं शताब्दी के यूरोपीय ज्ञानोदय में निहित है। यह ज्ञानोदय मनुष्य के मस्तिष्क और तर्कशक्ति को ईश्वर से भी शाक्तिशाली और स्वयंभू मानता है। इसका मूल वाक्य है "मैन इज दि मेजर ऑफ एवरिथिंग एल्स" यानी ईश्वर, प्रकृति, मनुष्येतर जीव-जन्तु सबका मूल्यांतरण मनुष्य के बनाये कृत्रिम मानदंडों पर ही हो सकता है। और जैसा कि सर्वविदित है, 18वीं शताब्दी के ज्ञानोदय का मानदंड था—अस्तित्व के लिए संघर्ष करना, सर्वश्रेष्ठ को जीतना एवं बचा रहना तथा वीर भोग्या वसुन्धरा। इस ज्ञानोदय की मान्यता थी कि मनुष्य समाज-असभ्य, बर्बर और सभ्य तीन अवस्थाओं से गुजरता है। इन अवस्थाओं में वह अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता हुआ सभ्य समाज के रूप में जीतता है। अंग्रेज शासक तो खुले आम कहते थे कि वे अपने उपनिवेशों की असभ्य एवं बर्बर आबादी को सभ्य बनाते हैं। यह गोरे लोगों का दायित्व है कि वे असभ्य एवं बर्बर काले और भूरे लोगों को सभ्य बनायें। वे यह भी मानते थे कि केवल ईसाई धर्म सभ्य लोगों का धर्म है। यहूदी और मुसलमान बर्बर लोगों के धर्म हैं तथा अन्य सभी धर्मावलम्बी असभ्य परम्परा के वाहक हैं। बिना इस सन्दर्भ को ध्यान में रखे हुए आप गांधीजी के उपरोक्त कथन को ठीक से नहीं समझ सकते।

गांधीजी जब यह कहते हैं कि वे सबसे पहले सनातनी हिन्दू हैं तो वे यह कह रहे थे कि मेरी नजर में हिन्दू धर्म भी एक सभ्य धर्म है और इसकी प्रमुख खराबी छुआछूत की भावना है। साथ ही वह यह भी कह रहे थे कि हिन्दू धर्म में अधिकार की भावना की तुलना में कर्तव्य की भावना प्रमुख है। जब वे यह कह रहे थे कि दूसरे स्तर पर मैं एक भारतीय हूँ तो वे यह कह रहे थे कि भारत एक प्राचीन सभ्यता है और काल-क्रम में इसमें हिन्दू-मुसलमान साथ-साथ रहते आये हैं। इनके बीच में एकता पैदा करके सभ्यता-मूलक जीवन पद्धति बनाये रखना मेरा दूसरा प्रमुख कर्तव्य है। इस बात में यह अपने आप निहित है कि भारतीय सभ्यता एक भू-सांस्कृतिक अवधारणा है और अनेकता में एकता स्थापित करना हर भारतीय का कर्तव्य है। अन्त में गांधीजी कहते हैं कि वे अपने पड़ोसी की सेवा करें। यह पड़ोसी मनुष्य भी हो सकता है, मनुष्येतर जीव-जन्तु हो सकता है, प्रकृति भी हो सकती है और दैवीय शक्ति भी। सनातन धर्म की जिस धारा से गांधीजी ने खुद को जोड़ा था उसमें सम्पूर्ण जगत ईश्वर के शरीर का विस्तार है और सम्पूर्ण संसार उनकी लीला का एक स्वरूप। मनुष्य 84 लाख योनियों में मात्र एक योनि है और ईश्वरीय लीला का एक खिलौना मात्र है। एक खिलौने का कर्तव्य है कि वह एक जीव के रूप में अपनी हद को नहीं लाँघे। कोई भी जीव अपने हाथ-पैर-शरीर से केवल अपने आस-पास के जीवों या पड़ोसियों की ही सेवा कर सकता है। हाँ, अपने अंहकार में वह सारी दुनिया की सेवा करने का दंभ अवश्य पाल सकता है। लेकिन अगर वह अपनी सेवा के स्वरूप पर निरपेक्ष मीमांसा करे तो उसको समझ में आयेगा कि जाने-अनजाने वह सेवा के बदले शोषण करता रहा है। रक्षा के बदले हत्या करता रहा है। शक्ति देने के बदले शक्तिहीन बनता रहा है। प्रगति के नाम पर विनाश करता रहा है। गांधीजी यह भी कहा करते थे कि सच्ची सभ्यता तो सर्वोदय पर टिकी होती है। जिस सभ्यता में एक भी आदमी दुखी हो वह सभ्यता मंगलकारी नहीं कही जा सकती। जो सभ्यता सत्य, सुन्दर और कल्याणकारी तत्वों से विमुख हो वह सभ्यता समृद्ध नहीं कही जा सकती। सत्य ईश्वर का दूसरा नाम है। सत्य यथार्थ और सम्भावनाओं के जोड़ का भी नाम है। हर जीव एक यथार्थ है लेकिन उसमें ईश्वर बनने की सम्भावना है। यथार्थ जीव को ईश्वर बनाने के तीन मार्ग हैं—कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग।

महात्मा गांधी कर्म मार्गी थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर भक्ति मार्गी थे। बाल गंगाधर तिलक एवं श्रीअरबिन्दो तथा गोपीनाथ कविराज ज्ञान मार्गी थे। कर्म मार्गी के रूप में भारत की सेवा करने वाली तथा कथित शूद्र जातियाँ महात्मा गांधी की प्रेरणा स्रोत थीं। बढ़ई, लुहार, कुम्हार जैसी शूद्र जातियों ने भक्ति आन्दोलन के दौरान 12वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक कर्म मार्ग और भक्ति मार्ग में समन्वय किया था। महात्मा गांधी ने भी इसी समन्वय को अपने 'हिन्द स्वराज' का आधार बनाया था। मनुष्य जीवन का लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार (यथार्थ) और ब्रहम-साक्षात्कार (सम्भावना) है। आधुनिक मानवतावाद का लक्ष्य एक ऐसे संसार की रचना एवं विकास है जिसमें व्यक्ति को यांत्रिक मशीनों एवं उपयोगितावादी विचारधारा के आधार पर असीमित सुविधाओं का उपभोग करने, प्रकृति का कृत्रिम रूप से असीमित दोहन करने और कानूनी समझौता के आधार पर प्रकृति एवं ब्रहमांड के संसाधनों का विलासिता के लिए 'मनमाना बन्दरबाँट' करने का अधिकार है। इस विचारधारा को मानवतावाद कहा जाता है। महात्मा गांधी इसको शैतानी सभ्यता की विचारधारा कहते थे जिसमें ईश्वर, सत्य, अहिंसा, सर्वोदय और सबका मंगल या कल्याण के लिए कोई जगह नहीं है। कुछ अन्य लोग इसको उपभोक्तावादी अपसंस्कृति और पूँजीवादी व्यक्तिवाद भी कहते हैं। लेकिन इस विचारधारा के समर्थक इसको मानवतावाद कहना ही पसन्द करते हैं। मानवतावाद शब्द सन्दर्भ से काटकर सुनने और कहने में अच्छा लगता है।

1991-92 के आस-पास नेहरूजी की विचारधारा अप्रासांगिक हो गई थी। पी. वी. नरसिंहराव की कांग्रेसी सरकार ने नेहरूवादी नीतियों को छोड़कर उदारीकरण का दामन थामा। ऊपरी तौर यह पूँजीवाद की नीति मानी जाती है लेकिन 1967 के आस-पास भारत में और 1968 के आस-पास पश्चिमी समाज में उत्तर-आधुनिकता का जन्म हो चुका था। 1977 के आम चुनाव में कांग्रेस पार्टी का एकाधिकार भारतीय राजनीति में टूट गया था। जनता पार्टी की सरकार में हर तरह के लोग थे। फिर भी 1991 तक नेहरूजी की नीतियों का वर्चस्व किसी न किसी तरह बना रहा। इसी बीच 1 फरवरी 1979 को ईरान में इस्लामिक क्रांति हो गई। 1982 के ऐशियायी खेलों के प्रसारण के लिए रंगील टी. वी. की तकनीक एवं इसके प्रसारण की व्यवस्था में इंदिरा गांधी और उनके सुपुत्र राजीव गांधी ने काफी सक्रियता दिखलायी।

प्रिंट मीडिया इस देश की वाचिक परम्परा के साथ असहज रही है। भारत जैसे शिक्षित देश की अभिव्यक्ति के लिए रेडियो टी.वी. और सिनेमा ज्यादा सहज माध्मय साबित हुआ है। रंगीन टी.वी. युग में हमलोग 'बुनियाद', 'रामायण', 'महाभारत', 'चाणक्य' और 'भारत एक खोज' जैसे सीरियलों ने पारम्परिक मूल्यों, एवं ईश्वरीय तत्त्व के प्रति इस्लामिक क्रांति की विचारधारा को अप्रत्याशित तरीके से स्वाभाविकता प्रदान किया।

इसी बीच 1989 में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कृत्रिम तरीके से अलग कर दिये गये पूर्वी एवं पश्चिमी जर्मनी एक हो गये। 1991 में कृत्रिम तरीके से बनाया गया सोवियत संघ बिखर गया। 1993 तक आते-आते उपनिषद विचारधारा सूखने लगी और सभ्यताओं के बीच संघर्ष की स्थिति रेखांकित की जाने लगी। अमेरिकी विद्वान सैमुएल हटिंगटन ने 1993 में अपना लेख 'सभ्यताओं के बीच संघर्ष' प्रकाशित करवाया जिसमें उन्होंने इस्लामिक एवं ईसाई सभ्यता के बीच संघर्ष तथा अमेरिकी एवं चीनी सभ्यता के बीच प्रतिद्वंद्विता के बारे में विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस बीच जेहादी इस्लाम ने आतंकवाद का दामन थामा। दक्षिण एशिया में इस्लामिक आतंकवाद एवं माओवादी विचारधारा (नक्सलवाद) के बीच अप्रत्याशित समझौता हुआ। फलस्वरूप अचानक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गांधीवाद की प्रासंगिकता बढ़ने लगी। सभ्यताओं के संघर्ष का गांधीवादी विकल्प सभ्यताओं का संवाद है। जेहादी इस्लाम का गांधीवादी विकल्प सूफी इस्लाम है। नक्सलवादी वर्ग संघर्ष का गांधीवादी विकल्प सर्वोदय एवं स्वराज का विकेन्द्रित विकास वाला मॉडल है। पश्चिमी उपभोक्तावाद का गांधीवादी विकल्प अपने शरीर को ईश्वर का मन्दिर और अपने व्यवसाय को उपासना का माध्यम बनाना है। व्यक्तिवादी हिंसा का गांधीवादी विकल्प सत्याग्रह और अहिंसक प्रेम एवं करुणा का नैतिक अस्त्र है।

उपरोक्त सन्दर्भ में गम्भीरता से विचार करने पर गांधीजी की प्रासंगिकता स्पष्ट है। लेकिन अन्य अर्थों में भी महात्मा गांधी की प्रासंगिकता समकालीन भारतीय समाज में बढ़ी है—गठबन्धन की मोर्चा सरकारें गांधीवादी दृष्टियों की जीत है। 1947 में स्वतंत्र भारत के कर्णधारों को महात्मा गांधी ने स्पष्ट कहा था कि कांग्रेस पार्टी को सत्ता की राजनीति का माध्यम मत बनाओ। इसे या तो भंग कर दो या इसको भारत सेवक संघ के रूप में रूपांतरित कर दो।

गांधीजी को डर था कि कांग्रेसी नेता अपनी सत्ता की राजनीति के लिए स्वतंत्रता आन्दोलन की विरासत का गलत इस्तेमाल करेंगे। किसी एक पार्टी या विचारधारा के लिए इतने बड़े देश की विविधता के साथ राजनीतिक या आर्थिक न्याय करना सम्भव नहीं होगा। उल्टे इसकी कृत्रिम कोशिश में सांस्कृतिक प्रदूषण फैलेगा, परन्तु नेहरू आदि ने गांधीजी की यह बात भी नहीं मानी। फलस्वरूप इस देश की जनता ने ही 1967 से 2009 के बीच कांग्रेस को एक राष्ट्रीय पार्टी के बजाय एक क्षेत्रीय पार्टी बना दिया। कांग्रेस के बेहतर विकल्प के रूप में अब तक कोई दूसरी राष्ट्रीय पार्टी भी नहीं बनी है। इससे लाचारी में ही सही संयुक्त मोर्चा की सरकारें बनने लगी हैं। केन्द्रीय सत्ता कमजोर हुई है। लोक की स्वायत्तता धीरे-धीरे ही सही, परन्तु राज्य संस्था की तुलना में निश्चित रूप से बढ़ी है। अभी लोक के ऊपर राज्य के बदले बाजार और धार्मिक संस्थाएँ हावी होती लग रही हैं लेकिन इससे अन्तिम अर्थों में समुदाय और समाज का ही सबलीकरण होगा।

पर्यावरण प्रदूषण और पशु हत्या के प्रति भी गांधीवादी मूल्यों की प्रासंगिकता बढ़ी है। योग, प्राकृतिक चिकित्सा, शाकाहार का भी महत्त्व बढ़ा है। विश्वव्यापी महंगाई एवं मारक मंदी का उपाय भी गांधीवादी रास्ते से ही निकलेगा ऐसी मान्यता अर्थशास्त्रियों में बढ़ रही है। जब तक भारत और चीन जैसे देशों के गांवों का गांधीवादी रास्ते से सबलीकरण नहीं होगा तब तक पश्चिमी उद्योगों का माल खरीदेगा कौन? खरीददार नहीं होंगे तो मंदी घटेगी कैसे? पूँजीवादी खगोलीकरण माँग और पूर्ति के सन्तुलन पर टिका हुआ है। महात्मा गांधी पूँजीपतियों के खिलाफ नहीं थे। वे पूँजीवाद के खिलाफ अवश्य थे। उनके ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त पूँजीपतियों को सामूहिक सम्पत्ति का रखवाला और व्यवस्थापक बनाया है। पश्चिमी अर्थों में न वे साम्यवादी थे और न पूँजीवादी। कुछ लोग उन्हें ईमाइल दुर्खीम और जॉन रस्किन की तरह गिल्ड-सोशलिस्ट मानते थे। दरअसल कुमारस्वामी की तरह वे भी परम्परावादी थे और विभिन्न प्रकार की परम्पराओं के बीच की सहधर्मिता या संरचात्मक एकता को स्वीकार करते थे। वे आधुनिकता के घोर विरोधी थें। भ्रमवश कुछ लोग आधुनिकता की यूरोपीय अवधारणा से अनजान होने के कारण भारतीय आधुनिकता का समकालीनता के अर्थ में प्रयोग करते हैं। वास्तव में समकालीनता और आधुनिकता में उतना ही बड़ा अन्तर है जितना

मानवतावाद और मनुष्यता या मानव धर्म में। महात्मा गांधी भारतीय परम्परा के समकालीन प्रतिनिधि थे। वे वर्णाश्रम धर्म का युगानुकुल करना चाहते थे।

यूरोपीय आधुनिकता मूलत: ईश्वर विरोधी एवं ईश्वर-निरपेक्ष सभ्यता है, जिसकी अभिव्यक्ति साम्राज्यवादी संरचना को सार्वभौमिक स्वरूप प्रदान करने में हुई है। इस सभ्यता का आधार स्वार्थ, लालच एवं भोग की राक्षसी प्रवृत्ति है। इस सभ्यता में व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन का आधार धर्म एवं आस्था के बदले मानव निर्मित एवं मानव केन्द्रित कानून है। इस तरह के कानून के केन्द्र में सत्य के बदले तर्क को महिमा मंडित किया जाता है। निष्पक्ष कानून को फख्र से अंधा एवं बहरा मानते हैं। फलस्वरूप वकील के तर्क एवं गवाह का पक्ष सत्य एवं न्याय पर भारी पड़ जाता है। भारतीय समाज का आधार सत्य और अहिंसा रहा है। हम आपस में चाहे जितना लड़ते-झगड़ते रहे हो लेकिन एक सभ्यता के रूप में भारत ने कभी भी किसी देश या सभ्यता पर आज तक आक्रमण नहीं किया है। भारत में सत्य या ईश्वर की व्याप्ति सार्वभौमिक मानी गई है। भारत में मनुष्य के बनाये सिद्धान्त पर अड़ना अथवा लकीर का फकीर होना एक प्रकार का अहंकार माना जाता है, जबकि नियति की इच्छा के आगे झुकना या लचीला रूख अपनाना सांसारिक युक्ति है। सोच समझकर या राय-मशविरा करके बनाये गये सामाजिक सिद्धान्तों एवं सांस्कृतिक आदर्शों का सामान्य स्थिति में महत्त्व एक हद तक तो स्वीकारा जाता है, लेकिन विशेष, विषय एवं विकट परिस्थिति में हर व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा की आवाज या ईश्वरीय प्रेरणा के आधार पर निर्णय लेता है अथवा बलिदान देता है। भारतीय सभ्यता की हर संस्कृति के केन्द्र में ईश्वरीय तत्त्व, शक्ति या सत्ता मानी गई है। हर संस्कृति, मत या सम्प्रदाय इसी तत्त्व तक पहुँचने का एक माध्यम है। संस्कृति और प्रकृति परिभाषा से ही एक-दूसरे की पूरक एवं सम्बन्धित अवधारणाएँ हैं। सनातनी हिन्दू के रूप में वे वर्णाश्रम व्यवस्था में विश्वास करते थे। लेकिन वे इस संस्था को एक विशेष अर्थ में देखते थे। उनकी दृष्टि भगवान बुद्ध के अर्थों में वर्णाश्रम धर्म का कर्म एवं स्वगुण पर आधारित संस्था मानती है। वे इसे जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था से गुणात्मक रूप से अलग मानते थे। वर्णाश्रम धर्म उनके लिए प्रोफेशनल इथिक जैसी चीज है। यह आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था का निर्माण करने का प्रयास था। हर वर्ग (जिसे गांधी वर्ण

के अर्थ में प्रयुक्त करते थे) के कुछ पारम्परिक अधिकार रहे हैं, परन्तु उससे भी बढ़कर उनका पेशेवर (व्यावसायिक) कर्तव्य रहा है। आधुनिक सभ्यता के दोनों प्रमुख विचारधाराओं (पूँजीवाद एवं साम्यवाद) का जोर अधिकार के लिए संघर्ष पर रहा है। जबकि गांधीजी की दृष्टि में वर्णाश्रम धर्म का जोर आत्मानुशासन एवं कर्तव्यबोध द्वारा समाज एवं प्रकृति के साथ संसार की सेवा रहा है। इस तरह वे एक तीसरे मार्ग की चर्चा करते हैं जिसमें वे समकालीन भारतीय सभ्यता को एक सन्तुलित, मंगलमय सभ्यता के मॉडल को सर्वोदय नाम से प्रस्तुत करते हैं। सर्वोदय उनके 'हिन्द स्वराज' का सार्वभौमिक मॉडल प्रस्तुत करता है।

गांधीजी के मॉडल में नगर एवं उद्योग के लिए भी जगह है परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसका केन्द्र ग्रामीण समुदाय है। सभ्यता का जो स्वरूप यूरोप ने प्रस्तुत किया उसमें गाँव और शहर का एक साथ रहना सम्भव नहीं है। उसमें ऐसा भूगोल ही सम्भव नहीं है जिसमें वनवासी के लिए कोई जगह हो। पारम्परिक संस्कृति की आत्मा गाँवों में फलती-फूलती है जबकि शहरों की भूमिका पूरक की होती है। इसके विपरीत आधुनिक सभ्यता शहर केन्द्रित होती है और गाँवों की भूमिका कच्चे माल और अप्रशिक्षित श्रमिकों की आपूर्ति करने वाले गौण सामुदायिक क्षेत्र की होती है। ग्रामीण जीवन में कृषि एवं हस्तशिल्प जीविका का साधन के साथ-साथ साधना क्षेत्र एवं उपासना पद्धति होता है। गांधी के 'हिन्द स्वराज' में भी गाँवों को साधना क्षेत्र और आत्म-परिष्कार की भूमि माना गया है जबकि नगरों को साधन मुहैया कराने वाला क्षेत्र ही माना गया है। आधुनिकता में साधना का सम्बन्ध आम आदमी से नहीं होता। साधना की जरूरत केवल दार्शनिकों, वैज्ञानिकों या कलाकारों को पड़ती है। आधुनिक साधक या तो महानगरों में होता है या महानगरों से लगे फार्म हाउसों में। जबकि गांधीजी की दृष्टि में साधना की भूमि ग्रामीण समुदाय कहलाता है और स्वराजी साधना की पारम्परिक संस्था वर्णाश्रम मानी जाती है। गांधीजी ने जहाँ भी साधना एवं सत्याग्रह किया आश्रम में रहे और उन्होंने कभी भी राज-सत्ता लेने या पूँजीपति बनने की कोशिश नहीं की। वे या तो एक शूद्र की तरह सेवा में तल्लीन रहे या एक ब्राहमण की तरह चिन्तन-मनन व नियमन-प्रशिक्षण में लगे रहे।

स्वधर्म

स्वधर्म स्वाभाविक होता है, सहज होता है। जीव के जन्म के साथ उसके स्वधर्म का जन्म भी होता है। स्वधर्म किसी को खोजना नहीं पड़ता। वह सहज ही स्वाभाविक रूप से मनुष्य को प्राप्त होता है। स्वधर्म का सम्बन्ध वृत्तियों से है। हर जीव की स्वाभाविक वृत्तियाँ होती है। उसे खोजने कहीं जाना नहीं पड़ता। वह अपने आप जीव के पास आ जाती है।

इसी स्वधर्म के आधार पर भारतीय संस्कृति में पारम्परिक वर्ण-व्यवस्था का विकास हुआ है। इसके आदर्श रूप में स्वाभाविकता और धर्म दोनों हैं। जो व्यवसाय पुरखों के समय से चला आया है वह यदि नीति-विरुद्ध न हो तो उसी को करना, उसी उद्योग को आगे चलाना चातुर्वर्ण्य की एक विशेषता है। यह वर्ण-व्यवस्था आज अस्त-व्यस्त हो गयी है। उसका पालन आज बहुत कठिन हो गया है। आज शुरू के पचीस-तीस साल तो नये धन्धे सीखने में ही चले जाते हैं। काम सीख लेने पर फिर मनुष्य अपने लिए सेवा क्षेत्र, कार्य क्षेत्र खोजता है। इस तरह शुरू के पचीस साल तो वह सीखता ही रहता है। इस शिक्षा का उसके जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह मानता है कि वह भावी जीवन की तैयारी कर रहा है। शिक्षा प्राप्त करते समय मानो वह जीता ही न हो। जीना बाद में है। मानो जीना और सीखना ये दोनों चीजें अलग-अलग कर दी गयी हों। जिसका जीने के साथ सम्बन्ध नहीं, उसे मरना ही तो कहेंगे। इस तरह नया काम-धन्धा सीखने में ही पचीस-तीस वर्ष व्यर्थ हो जाते हैं। इससे उमंग और महत्त्व के वर्ष व्यर्थ चले जाते हैं। जो उत्साह, जो उमंग जन-सेवा में खर्च करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह यों ही व्यर्थ चला जाता है। जीवन कोई खेल नहीं है, परन्तु आजकल जीवन का पहला अमूल्य अंश तो जीवन का काम-धन्धा खोजने में ही चला जाता है।

हिन्दू धर्म ने इसलिए वर्णाश्रम धर्म और बुनियादी शिक्षा की युक्ति निकाली है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्णाश्रम धर्म में वंश परम्परा से चला आया व्यवसाय करने की ही बाध्यता है। भारतीय परम्परा में प्रयोग की भी गुंजाइश है। गौतम बुद्ध और महात्मा गांधी ने वंश परम्परा के साथ गुरु परम्परा और स्वगुण के आधार पर प्रयोग की इजाजत दी है। मूल प्रश्न यह है कि जीना और सीखना अलग-अलग नहीं होना चाहिए। हमें ऐसा व्यवसाय चुनना चाहिए जो जीवन यापन के साधन के साथ-साथ सज्जनकारी और मुक्तिदायी दोनों हो। जो आत्म परिष्कार और ब्रह्म उपासना दोनों का साधन हो। जब हम स्वधर्म में मग्न रहते हैं, तो रजोगुण फीका पड़ जाता है, क्योंकि तब चित्त एकाग्र होता है। चित्त स्वधर्म छोड़कर कहीं जाता ही नहीं। इससे चंचल रजोगुण का सारा जोर ही ढ़ीला पड़ जाता है। जब नदी शान्त और गहरी होती है, तो कितना ही पानी उसमें बढ़ आये, तो भी वह उसे अपने पेट में समा लेती है। इस तरह स्वधर्म रूपी नदी मनुष्य का सारा बल, सारा वेग, सारी शक्ति अपने भीतर समा लेती है। स्वधर्म में पूरी शक्ति लगाने पर रजोगुण की दौड़ धूप वाली वृत्ति समाप्त हो जाती है। रजोगुण की चंचलता को जीतने की यही सनातनी रीति है। रज-तम का तो पूर्ण उच्छेद करना आत्म परिष्कार के लिए आवश्यक है। रजोगुण और तमोगुण के चले जाने पर शुद्ध सत्वगुण रह जाता है। जब तक हमारा शरीर कायम है, तब तक हमें किसी न किसी भूमिका में रहना ही पड़ेगा। जब सत्वगुण का अभिमान हो जाता है, तब वह आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप से नीचे खींच लाता है। सत्वगुण पर विजय पाने का अर्थ यह है कि उसके प्रति हमारा अभिमान, हमारी आशक्ति हट जाये। सत्वगुण को निरंकारी बना देना चाहिए। इसके लिए सत्वगुण को हम अपने अन्दर स्थिर कर लें। सातत्य से उसका अभिमान चला जाता है। सत्वगुण युक्त कर्मों को ही हम सतत करते रहें, उसे अपना स्वभाव ही बनायें। जो बात स्वाभाविक है, उसका हमें अहंकार नहीं होता। सत्वगुण को निस्तेज करने की यह एक युक्ति है। दूसरी युक्ति है, सत्वगुण की आशक्ति भी छोड़ देना। इसके लिए पहले अहंकार को जीतना चाहिए। फिर आशक्ति को जीतने की कोशिश करनी चाहिए। सातत्य से अहंकार जीत सकते है। फलाशक्ति को छोड़कर सत्वगुण से प्राप्त फल को भी ईश्वरार्पण करने से आशक्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है। जीवन में सत्वगुण स्थिर हो जाता है,

तब कभी सिद्धि के रूप में या कभी कीर्ति के रूप में फल सामने आता है, परन्तु उस फल को भी तुच्छ मानकर उसका भी त्यागकर आप मुक्ति के अधिकारी बन सकते हैं।

इसके लिए आत्मज्ञान और भक्ति का आश्रय लेना चाहिए। इसके बिना सांसारिक माया से पार पाना कठिन है। खासकर वैश्वीकरण, उदारीकरण और उपभोक्तावाद के इस देहवादी समय में आत्म-ज्ञान की प्राप्ति केवल निवृत्ति मार्गियों के लिए आवश्यक नहीं है। प्रवृत्ति मार्गी भी इससे उतना ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं। प्रवृत्ति मार्गी के पुरुषार्थ में भी वही चारो पुरुषार्थ आते हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। निवृत्ति मार्गी के मार्ग में भी यही चारो पुरुषार्थ आते हैं। अन्तर केवल इतना है कि प्रवृत्ति मार्गी अर्थ और काम में रस लेता है और निवृत्ति मार्गी इन्हें मुक्ति के लिए विचलन या चुनौती मानता है। निवृत्ति मार्गी ब्रहमचर्य आश्रम से सीधे संन्यास आश्रम में जाना चाहता है। यह श्रमण परम्परा कहलाता है। वह उत्कट साधना से जल्दी मुक्त होना चाहता है। लेकिन उत्कट साधना में मूलत: वह आत्माज्ञान के आधार पर अर्थ और काम की प्रवृत्ति को ही दृढ़ता पूर्वक जीतने के लिए लगा रहता है। उसकी साधना कठोर और अस्वाभाविक जिद पर आधारित होती है। यह रास्ता सबके लिए नहीं है। यह जैन मुनियों और बौद्ध भिक्षुओं तथा नाथपंथी नागा संन्यासियों का मार्ग है। दूसरी ओर वैदिक परम्परा को मानने वाले आम नर-नारी वर्णाश्रम व्यवस्था के क्रमिक मुक्ति का स्वाभाविक एवं सहज प्रवृत्ति मार्ग चुनते हैं। इसमें चार आश्रमों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पाने का पुरुषार्थ प्रवृत्तियों को सन्तृप्त करके प्राप्त करने की कोशिश की जाती है।

इस मार्ग के लिए भी आत्मज्ञान जरूरी है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के बिना स्वधर्म का ज्ञान नहीं होता। वर्ण-आश्रम का धर्म भी नहीं निभा पाता। व्यक्ति को अर्जुन की तरह स्वधर्म के बारे में दुविधा घेरे रहती है। लेकिन हर व्यक्ति के आस-पास कृष्ण जैसा गुरु उपलब्ध नहीं होता जो दुविधाओं का निराकरण कर सके। अत: सामाजिक रीतियों से और साम्प्रायिक आचार्यों से यथा सम्भव मदद मिलती है। प्राचीन काल में मूलत: चार प्रकार के व्यवसाय थे और तीन तरह के स्वगुण थे। सतोगुणी व्यक्ति के लिए ब्राहमण वर्ण के व्यवसाय उत्तम माने गये। सतोगुण और रजोगुण के मिश्रण वाले व्यक्तियों के लिए क्षत्रिय वर्ण के व्यवसाय उत्तम माने गये रजोगुण और तमोगुण वाले

व्यक्तियों के लिए शूद्र वर्ण के व्यवसाय सेवा देने वाले सर्विस सेक्टर के व्यवसाय होते थे। शूद्र वर्ण के व्यवसाय तकनीकि व्यवसाय होते थे, जिससे उत्पादन और उपभोग के साधनों का सर्जन एवं संवर्द्धन होता था। वैश्य वर्ण का व्यवसाय मूलत: उद्यम एवं व्यापार था, जिससे वस्तुओं का बड़े स्तर पर उत्पादन तथा वितरण होता था। क्षत्रिय वर्ण का व्यवसाय शासन, प्रबन्धन, न्याय एवं सुरक्षा से सम्बन्धित व्यवसाय था। ब्राहमण वर्ण के अन्तर्गत शिक्षण, शोध, प्रशिक्षण, पौरोहित्य, ज्योतिष, चिकित्सा, धार्मिक परामर्श, कल्याणकारी यज्ञ एवं सामाजिक मंगलदायक व्यवसाय आता था। खेती मनु के अनुसार वैश्य कर्म है लेकिन अन्य आचार्य इसे चारों वर्णों के लिए खुला व्यवसाय मानते हैं। वर्ण-व्यवस्था में पंचम वर्ण की कोई अवधारणा नहीं रही है। पंचम के तहत वर्ण-व्यवस्था से बाहर का समुदाय रहा है जिन्हें आप बाहरी एवं विधर्मी लोग कह सकते हैं। ऐसे लोग जो वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानते या जिन्हें वर्ण-व्यवस्था से किसी कारण बस निकाल दिया गया हो। वर्ण-व्यवस्था के तहत कार्यात्मक विभाजन एक पक्ष है। वर्णाश्रम धर्म या वर्णों का इथिक या नैतिक दायित्व इसका दूसरा पक्ष है। अधिकार के साथ कर्तव्य का निरूपण करना वर्णाश्रम धर्म की मूल विशेषता रही है। इसकी दूसरी विशेषता इसका लचीलापन रहा है। परशुराम और द्रोणाचार्य ब्राहमण वर्ण में उत्पन्न होकर भी क्षत्रिय थे। बुद्ध, महावीर एवं विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न होकर भी ब्राह्मण माने गये। ब्राह्मण ऋषि (ब्रहमर्षि) कहलाते। लेकिन कालक्रम में वर्ण-व्यवस्था में रूढ़ियाँ और कुरीतियाँ आ गयी। विदेशी दासता के युग में इसमें अन्तर्विरोध भी आया। आधुनिक काल में बहुत सारे नये व्यवसाय आये जिन्हें किस वर्ण में रखा जाये यह समस्या रहती है। इसके बावजूद स्वधर्म के निर्धारण में वर्ण-व्यवस्था की अवधारणा आज भी एक उपयोगी सन्दर्भ प्रारूप बन सकता है। कम से कम महात्मा गांधी और विनोबा भावे जैसे उनके प्रमुख अनुयायी ऐसा मानते रहे हैं।

जिन्दगी का दिव्य स्वरूप और 'हिन्द स्वराज'

पश्चिम की सांस्कृतिक आलोचना ने भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के बारे में समीक्षा दृष्टि के देशी स्रोत सुखा दिये हैं। रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, गुण, सौन्दर्य दर्शन, व्याकरण दर्शन का पूरा प्रवाह इस मरुस्थल ने पी लिया है। वह भी महात्मा गांधी, टैगोर, रामचन्द्र शुक्ल, निराला, प्रसाद, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, मुक्तिबोध, विजयदेव नारायण साही, निर्मल वर्मा आदि के प्रयासों के बावजूद तकनीक के विकास ने मानव के अन्तर्जगत को खोखला कर दिया है और बाहरी जगत पर चेतना का नहीं, देहवादी उपभोक्तावाद का कब्जा है। सिनेमा, थिएटर, रेडियो, दूरदर्शन अब क्लासरूम नहीं रहे, न इनमें साहित्य को स्थान है और न कला, शास्त्रीय संगीत को। संस्कृति उद्योग का जोर 'प्रभाव' पर है। प्रभाव का केवल स्टाइल पर। स्टाइल में कथ्य गायब है—केवल क्षणभंगुर चमत्कार है। इस स्टाइल से अतृप्ति का तनाव उपजता है। सन्तोष, तृप्ति या मूल्यवान स्मृति का जन्म नहीं होता। इस चेतना से महात्मा गांधी की कृति 'हिन्द स्वराज' नहीं पढ़ा जा सकता। 'हिन्द स्वराज' पढ़ने के लिए आम आदमी के सामान्य जिन्दगी में संगीत और उत्सव को खोज पाने की दृष्टि चाहिए। सनसनी की खोज में रहने की आदत से अतृप्ति और बदहवासी मिलती है। इस आदत से लाचार लोगों को 'हिन्द स्वराज' पढ़ने में ऊब महसूस होती है, समझ में आना तो दूर की बात है। 'हिन्द स्वराज' में जिन्दगी के दिव्य स्वरूप का कथ्य है, सनसनी फैलाने वाले उद्योग का स्टाइल नहीं है।

13 नवम्बर से 22 नवम्बर, 1909 के बीच 'हिन्द स्वराज' की रचना महात्मा गांधी ने की थी। बीस अध्यायों में विभक्त यह पुस्तिका गांधीजी के दर्शन का बीज-पाठ है। लगभग 39 साल तक महात्मा गांधी अपने जीवन

एवं कर्म को इसी दर्शन के अनुसार जीते रहे। समय के साथ इसमें उनका विश्वास और गहरा होता चला गया। इस पुस्तक में गांधीजी के सम्पूर्ण सरोकारों की अभिव्यक्ति हो गई है। 20 मार्च, 1910 को 'हिन्द स्वराज' के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में उन्होंने माना कि मूल गुजराती पाठ में कुछ खामियाँ रह गई थीं, परन्तु वक्त के साथ गांधीजी का इसमें विश्वास इतना बढ़ गया था कि उन्हें 'हिन्द स्वराज' के मूल पाठ को संशोधित करने की भी जरूरत महसूस नहीं हुई। वे अन्त तक 'हिन्द स्वराज' के मूल पाठ को एक बुनियादी ग्रन्थ मानते रहे। एक ऐसा ग्रन्थ जो आधुनिक औद्योगिक सभ्यता को संहारकारी मानकर एक वैकल्पिक सभ्यता की रूपरेखा और उसकी वांछनीयता प्रस्तुत करता है। विरोधियों के अनुसार 'हिन्द स्वराज' एक मूर्ख की रचना है। इसमें व्यक्त विश्व-दृष्टि न केवल अव्यावहारिक है, बल्कि किसी भी आधुनिक समाज और राष्ट्र के लिए विनाशकारी भी है।'

1945 में पहली और आखिरी बार देश में 'हिन्द स्वराज' के बरते जाने का प्रस्ताव आया और एक ही झटके में ठुकरा दिया गया। उनके पुरान और अन्तरंग सहयोगी भी 'हिन्द स्वराज' को गांधी की आँख से नहीं देख सके।

इक्कीसवीं सदी की बदहाली ऐसी है कि आज विकल्प की बात गांधीजी के समय से भी ज्यादा आकर्षक लगती है। पर 'हिन्द स्वराज' में विकल्प का जो तर्क है अथवा जिस आमूल चूल परिवर्तन की अनिवार्य शर्त है उसमें यह ग्रन्थ बहुत लोगों को आज भी अव्यावहारिक और काल बाह्य लगता है। वर्तमान आधुनिक चेतना के पास वैकल्पिक भाषा और भावबोध का न साहस है न सामर्थ्य।

'हिन्द स्वराज' में एक वैचारिक समग्रता है। आधुनिक सभ्यता अब तक अपनी जड़े काफी गहराई तक जमा चुकी है। इससे मोहभंग होने के बाद भी लोग अपनी आधुनिक चेतना में 'हिन्द स्वराज' को सिर्फ आंशिक तरीके से ही समझ या मान सकने के स्थिति में हैं। समग्रता में 'हिन्द स्वराज' को स्वीकारने के लिए पारम्परिक दृष्टि एवं चेतना चाहिए, वर्ना जिन्दगी का दिव्य स्वरूप कायम नहीं रह पायेगा।

सनातन सत्य

इस दुनिया में जिस भी चीज का अस्तित्व है वह अकारण नहीं है। वह अनापेक्षित एवं अवांक्षित नहीं है। अस्तित्व का कारण कामना या डिजायर ही होता है। संसार में जो कुछ भी है वह ईश्वर की इच्छा एवं मर्जी के कारण ही है। संसार में जो कुछ भी है वह ईश्वरीय लीला का अंश है।

संसार में अस्त्विवान हर चीज़ की ईश्वर की लीला में एक निश्चित भूमिका है। हर अस्त्विवान चीज़ संसार में स्थित हर दूसरी चीज़ से ईश्वरीय योजना के अनुसार गहरे अर्थ में सम्बन्धित है, खासकर आस-पड़ोस में उपलब्ध चीजों में गहरा अन्त: सम्बन्ध पाया जाता है। इकोलॉजी या पर्यावरण पड़ोस की प्राकृतिक सीमा है।

इतना तक कि बीमारी, कीड़े मकोड़े, गंदगी, अपराध, पाप, दुर्घटना, की भी दैवीय न्याय में एक निश्चिन्त सकरात्मक भूमिका होती है। इसको टुकड़ों में अंश के रूप में नहीं समझा जा सकता। इसको सम्पूर्णता के रूप में, विश्वरूप के रूप में, वैश्वानर के रूप में, क्षीरसागर में शेषनाग, कमल के ऊपर सोये विष्णु के रूप में, जीवन के व्यक्त रूप में, एक शरीर के विभिन्न अंग के रूप में ही समझा जा सकता है। समझने का कोई और उपाय नहीं है।

अर्जुन को गीता सुनने से समझ में नहीं आयी। तब श्रीकृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखलाया। साम्प्रदायिक आचार्य अपने युग, भाषा और शिष्यों की मनोभूमि को ध्यान में रखकर अपनी गीता (दर्शन/ भाष्य) विकसित करते हैं और विश्वरूप (ritual èsamskarè visual of the cosmos) को एक फार्मूला या सगुण उदाहरण (test case) के रूप में विकसित करते हैं। इसको सम्पूर्णता में चेतना की उच्चतम अवस्था में ही समझा जा सकता है। इस चेतना के बाद व्यक्ति मुक्त हो जाता है। वह शून्य में स्थित हो जाता है।

यह निर्गुण की स्थिति है। यह सृजनरूप वेद = संसार के अन्त (वेदांत = transcendental consciousnes) की स्थिति है। इस अद्वैत वेदांत की स्थिति से विश्वरूप देखने की पात्रता बनती है। इससे पहले परम शान्ति नहीं मिलती। इससे पहले जिज्ञासाओं, प्रश्नों, समस्याओं का समाधान नहीं मिलता। मौन नहीं सधती। काम, क्रोध, मोह, अहंकार से मुक्ति भी नहीं मिलती। भक्ति भी नहीं सम्भव हो पाती। व्यक्ति अपने स्वभाव और स्व धर्म में टिक भी नहीं पाता। विश्वास में स्थिरता नहीं आती। इससे पहले चीजें अन्तर्विरोधी, अवांक्षणीय एवं असम्बद्ध दिखती हैं। इससे पहले सुधार, हस्तक्षेप की आवश्यकता महसूस होती है। इससे पहले व्यक्ति बिना कुछ किये बेचैन रहता है। कुछ करने से कर्तव्य का अभिमान होता है।

बिना अपना दैवीय उपयोग खोए कुछ भी इस जगत, संसार या इकोलॉजिकल जोन या स्थानीय पर्यावरण से अनुपस्थित नहीं होता। संसार में जिस भी चीज की वास्तव में आवश्यकता है वह प्रकृति में उपलब्ध है। जब कोई चीज आप दिल से चाहते हैं तो सारी कायनात उसे पूरा करने में लग जाती है, जो चीज खो जाती है, चोरी हो जाती है, भूल जाती है या अपहरित हो जाती है, गहरे संरचनात्मक स्तर पर वह भी दैवीय न्याय या दैवीय लीला का ही प्राकृतिक रूप से वांक्षणीय रूप है।

अत: भक्त परेशान नहीं होते। वे अपने प्रभु = विश्वरूप को देख लेने के बाद समझ लेने के बाद, कर लेने के बाद परेशान नहीं होते। भक्त देखते हैं। ज्ञानी समझते हैं—सुनकर या पढ़कर। कर्मवादी अपने मुख्य कर्मकांड के स्वरूप के आधार पर विश्वरूप की अनुकृति की रचना कर लेते हैं और इस कर्म को नियमित साधना के रूप में करते रहते हैं।

इस दृष्टि से भक्ति मार्ग एवं दुनिया के सारे धार्मिक-सांस्कृतिक विमर्शों का काम आम आदमी को मूल प्रश्नों (noumenal questions) की चिन्ता से मुक्त करके जिन्दगी की जद्दोजहद संसार को प्रासंगिक बनाये रखने की है। इस संसार में हर पीढ़ी को अपनी जिन्दगी की जद्दोजहद नए सिरे से लड़नी पड़ती है। यह जिन्दगी केवल श्री कृष्ण की लीला स्थली नहीं, सनातन युद्ध भी है जिसमें हर जीव अपने आप में अर्जुन है—दुविधाग्रस्त योद्धा। वह युद्ध नहीं लड़ना चाहता, लेकिन उसे न सिर्फ लड़ना पड़ता है बल्कि किसी न किसी तरह जीतना पड़ता है। इस युद्ध में हम हारने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं।

रणछोड़ कर भागने के लिए श्रीकृष्ण की तरह कूबत अवतारी पुरुष, पूर्णावतार चाहिए। वर्ना रणछोड़ कर जान बचाना जिन्दगी भर सालती रहती है। कर्तव्य और अधिकार के युग्म से ही जिन्दगी अर्थपूर्ण बनती है। संसार के सारे विमर्श में पात्रता कर्तव्य और अधिकार के युग्म पर ही आधारित है। कर्तव्य से भागकर रणछोड़ कर आप न तो जिन्दगी में अधिकार पा सकते हैं, न सफलता और न चैन।

वर्णाश्रम धर्म का आधार भी कर्तव्य और अधिकार का युग्म ही है। बिना कर्तव्य निभाये आपको अधिकार नहीं मिलता। कर्तव्य आपके नियंत्रण में है, अधिकार भगवान या समाज के नियंत्रण में है। दूसरों के नियंत्रन में है। अधिकार आपके कर्तव्य का फल है। आप जिस नीयत से जिन्दगी जीते हैं वह आपके कर्तव्य और अधिकार भावना में अभिव्यक्त होता है। सोलह कलाओं से पूर्ण हुए बिना रण छोड़ने की कूबत सामर्थ्य आपमें नहीं आती। रण छोड़ना संन्यास लेने जैसा मुश्किल 'कर्तव्य' है। श्रीकृष्ण के रणछोड़ बनने में एक लीला-भाव है। यह आम मनुष्यों के बूते की बात नहीं है। ब्राह्मण वर्ण में आचार्य पूर्वपक्ष है, शिष्य उत्तर पक्ष है, विद्या संधि है और प्रवचन संधान है। कर्तव्य-अधिकार युग्म के ये चार पक्ष हैं। पश्चिमी परम्परा में थीसिस पूर्वपक्ष है, एंटीथीसिस उत्तर पक्ष है, सिंथेसिस संधि है। पश्चिम में कर्तव्य-अधिकार युग्म के ये तीन पक्ष हैं। सनातन परम्परा में जिन्दगी के नौ रस हैं। जबकि पश्चिमी परम्परा में पाँच रस हैं। अपनी-अपनी परम्परा में हर विमर्श एक न्याय संगत कर्तव्य-अधिकार के युग्म की व्यवस्था रखता है ताकि आम आदमी जिन्दगी का आनन्द ले सके। हर विमर्श एक फेनोमेनल सांस्कृतिक रूप से निर्मित नाउमेनल सत्य से वंचित यथार्थ होता है।

आप जब भी संकल्पित होते हैं ईश्वर आपके समर्पण की परीक्षा लेने के लिए लीला शुरू कर देते हैं और आपका चित्त चंचल हो जाता है। आज की शिक्षा व्यवस्था आपको वैचारिक रूप से वर्ण संकर बना देती है। वेदों में सात ऋषियों और 49 मरुत प्राणों का वर्णन है। सातो ऋषियों के मंडल बँटे हुए हैं। हर मंडल में देवता और विषय अलग-अलग हैं और उपवेद अलग-अलग हैं। हर ऋषि का कुल, गोत्र और प्रवर चलता है। हर कुल का अपना व्यवसाय और प्रवृत्ति होती है। कुल-गोत्र की विरासत व्यक्ति को चेतन, अवचेतन और अचेतन स्तर पर प्रभावित करता है।

श्रुति की शिक्षा नहीं दी जा सकती। स्मृति और पुराणों की शिक्षा दी जा सकती है। श्रुति गुरुमुखी विद्या है। यह केवल पुत्र और शिष्य को दी जा सकती है। यह विद्या ट्रांसप्लांट की जाती है अथवा शक्तिपात द्वारा उत्तराधिकार में दी जाती है। यह औपचारिक शिक्षा का विषय नहीं है। यह अनाधिकारी को नहीं दिया जा सकता।

वैदिक ऋचाएँ मध्यमा और पश्यंति के बीच की स्थिति में पहुँचने पर खुलती हैं। मध्यमा और पश्यंति वाक् के बीच की स्थिति है जिसे परा, पश्यंति, मध्यमा और बैखरी कहते हैं। बैखरी बोला हुआ निम्नतम वाक् है और परा वाक् की उच्चतम स्थिति है। वेदों के युग के बाद दर्शन का युग शुरू हुआ। पहला दार्शनिक सम्प्रदाय बौद्धों ने विकसित किया। वैदिक दर्शनों का व्यवस्थित विकास वेदांगों के आधार पर बाद में हुआ है। वेदांग भी छ: हैं और वैदिक दर्शन भी छह ही हैं।

हर व्यक्ति में 23 क्रोमोजोम माँ का और 23 क्रोमोजोम पिता का होता है। इसलिए हर व्यक्ति अर्धनारीश्वर है। हर व्यक्ति नीलकंठ है। हर व्यक्ति का गर्दन उसके पूरे शरीर से सांवला होता है। हर व्यक्ति का गर्दन भोजन के प्रदूषण, जहर का अधिकांश भाग गर्दन में ही रख लेता है केवल 10 प्रतिशत जहर अन्दर जाता है, जिससे बीमारी एवं बुढ़ापा आती है।

गंगा के पानी में पोटेशियम अधिक मात्रा में होता है जिससे ब्रेन तेज होता है। इसी लिए भारतीय संस्कृति में खासकर उत्तर भारत में, गंगा के पानी अथवा गंगाजल का इतना ज्यादा महत्त्व है। इसे पवित्रतम जल माना जाता है और इसकी कुछ बूँदे शरीर पर छीट लेने से आदमी पवित्र हो जाता है। सावन महीने में भगवान शिव के ऊपर गंगाजल से अभिषेक करने का रिवाज है। मरते हुए व्यक्ति को अन्तिम समय में गंगाजल दिया जाता है ताकि उसकी आत्मा मुक्त हो सके।

जाति जन्म पर आधारित एक जैविक संस्था है जबकि वर्ण गुण, कर्म, विभाग पर आधारित एक सांस्कृतिक संस्था है। दोनों कभी एक नहीं थे। न आज एक हैं। न कभी एक होंगे। हिन्दू समाज एवं संस्कृति में दोनों का अपना अपना महत्त्व है।

भारत को एक सम्पूर्ण राष्ट्र के रूप में गुलाम नहीं बनाया जा सकता। इसकी भौगोलिक सीमा पर आक्रमण होता रहा है। इसकी स्थूल व्यवस्था

कालबाह्य होने पर टूटती रही है। इस टूटने के क्रम में विदेशियों का स्थूल शासन भी इसके भूगोल के कुछ हिस्सों पर होता रहा है, परन्तु इसके सनातन प्रवाह में आक्रमक या विदेशी शासक पालतू बनते रहे हैं। एक सनातन सभ्यता के रूप में भारत महाकाली के शरीर का विस्तार है तथा इसकी चेतना में महाकाल की आत्मा है।

भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या देशी खेती, बाढ़ और सूखा तथा वैकल्पिक ऊर्जा के पारम्परिक स्रोतों के प्रति प्रभु वर्ग की उदासीनता एवं नासमझी है। पिछले एक दशक में भारत में करीब 2 लाख से ज्यादा किसानों ने आत्महत्या किया है। भारत की आबादी 1 अरब 20 करोड़ है। वैश्विक स्तर पर भी दुनिया की आधी भूखी आबादी उन लोगों की है, जो खुद खाद्यान पैदा करते हैं। यह सीधे-सीधे खेती में निवेश होने वाले अधिक धन, रासायनिक पदार्थों और बड़े निवेश से सम्बन्धित है और इन सबकी शुरुआत हुई हरितक्रांति के नाम पर। खेती के काम में महंगे निवेश के चलते किसान कर्ज में फँस जाते हैं और फिर कर्ज में फँसे हुए किसान जो कुछ पैदा करते हैं, कर्ज चुकाने के लिए उन्हें सब अनाज बेचना पड़ता है। इसका उपाय यही है कि सस्ते, कम लागत वाले कृषि उत्पादन को बढ़ावा दिया जाये और ऐसी कृषि नीति को बढ़ावा दिया जाये जो कृषि और पारिस्थितिकी के सिद्धान्तों पर आधारित हो। कारपोरेट कृषि और ठेका कृषि इस समस्या का सही समाधान नहीं है। खाद्य सुरक्षा में सुरक्षित, स्वास्थ्यवर्द्धक, सांस्कृतिक रूप से संगत और आर्थिक रूप से वहनीय खाद्यान्न का अधिकार भी निहित है। इस देश में करीब छह करोड़ पचास लाख लोग भूख की समस्या से गावों में पीड़ित है। लेकिन किसान आत्महत्या की समस्या मूलतः महाराष्ट्र के विदर्भ (कपास की खेती) और आंध्र प्रदेश (तम्बाकू की खेती) में है। इनको अन्य फसलों की खेती करनी चाहिए। सब्जियों की खेती एक अच्छा विकल्प हो सकता है।

ढाँचागत विकास के नाम पर केवल सड़क, बिजली, पुल तथा फ्लाइओवर बन रहे हैं। बाढ़ और सूखा से निबटने के लिए नदियों को जोड़ना, डैम बनाना, नहर बनाना, तालाब बनाना भी उतना ही जरूरी है। पानी की समस्या और वैकल्पिक ऊर्जा की समस्या को प्राथमिकता मिलना जरूरी है। व्यावसायिक शिक्षा के साथ-साथ राजनीतिक एवं पौरोहित्य प्रशिक्षण दिया जाना भी युग की माँग है। युगानुकुल शिक्षा और विकेन्द्रित विकास के बिना प्रजातंत्र की खूबियाँ नहीं निखर पाती।

कुजात गांधीवादी लोहिया

महात्मा गांधी के प्रमुख शिष्यों में विनोबा, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और खान अब्दुल गफ्फार खां की चर्चा की जाती है। लोहिया खुद को कुजात गांधीवादी कहते थे। मेरी दृष्टि में महात्मा गांधी की मूल चेतना को सामाजिक क्षेत्र में विनोबा और राजनीतिक क्षेत्र में लोहिया ने आगे बढ़ाया है। एक अर्थ में विनोबा और लोहिया दोनों एक-दूसरे के पूरक थे। दोनों को मिलाकर ही गांधी के सभ्यता-मूलक विमर्श का एक सांस्कृतिक सन्दर्भ था जो नेहरू की गैर-गांधीवादी नीतियों के विरोध में उपजा था। जवाहरलाल नेहरू आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के हिमायती थे। वे गांधीजी से भावनात्मक रूप से अवश्य जुड़े थे लेकिन वैचारिक रूप से वे गांधीजी के प्रमुख प्रतिद्वंद्वी थे। दूसरी ओर, लोहिया गांधीजी की वैचारिक परम्परा को राजनीति में सींचने वाले माली थे। गांधीजी की तरह लोहिया भी राजनीति और धर्म के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार कर राजनीति के नैतिक आधार को मजबूत करने में लगे रहे। लोहिया ने साफ शब्दों में कहा कि धर्म दीर्घकालीन राजनीति है और राजनीति अल्पकालीन धर्म। धर्म श्रेयस की उपलब्धि का प्रयन्त करता है, राजनीति बुराई से लड़ती है। धर्म और राजनीति के दायरे अलग रखना ही अच्छा है, लेकिन यह समझते हुए कि दोनों की जड़ें एक हैं। एक ही वस्तु के दो स्वरूपों, एक अल्पकाल और दूसरा दीर्घकाल के भेद का एक नतीजा अवश्य होता है। लम्बान में काल शान्त है। अल्प में काल रुद्र है। दोनों का तात्पर्य एक है। धर्म और राजनीति के अविवेकी मिलन से दोनों भ्रष्ट होते हैं। राजनीति के दण्ड और धर्म की व्यवस्थाओं को अलग रखना चाहिए, परन्तु मर्यादा निभाते हुए धर्म और राजनीति एक-दूसरे से सम्पर्क न तोड़ें।

लोहिया ने यह भी कहा कि पवित्र नदियाँ साफ करो, तीर्थ-स्थानों को साफ करो, कैलाश-मानसरोवर को या तो स्वतंत्र तिब्बत की रखवाली में रखो या हिन्दुस्तान को दो, कैलाश-मानसरोवर पर चीन का कोई हक नहीं बनता। वे यह भी कहते हैं कि गांधीजी ने भी धर्म को या ईश्वर को या सत्य को दरिद्रनारायण में देखा था और विशेष करके दरिद्रनारायण की रोटी में।

लोहिया ने यह भी कहा कि उपनिषद वेदों का एक निचोड़ है, पूरा निचोड़ नहीं। उपनिषद में दर्शन को आप संगीत के रूप में पायेंगे। सारी दुनिया में दर्शन गद्य में है। केवल हिन्दुस्तान में दर्शन संगीत के रूप में कहा गया। जब दर्शन और संगीत का जोड़ हो जाये तो मजा ही आयेगा। इन श्लोकों को अगर मन में गुनगुनाओ या जोर से भी सुनो तो मजा तो मिलता ही है और फिर ब्रह्म ज्ञान का वह स्वरूप आपके मन के सामने आता है जिसमें आदमी अपनी सीमित करने वाली चमड़ी के कुछ बाहर निकलकर बाकी सबसे अपनापन अनुभव करने लगता है। चमड़ी हमारी सीमा है। जैसे देश की सीमा होती है, वैसे हमारी सीमा चमड़ी है। इसी के अन्दर हम हैं। जब आदमी अपने संकुचित शरीर और मन से हट कर सब लोगों से अपनापन महसूस करे, यही असली ब्रह्म ज्ञान है।

गांधीजी के सनातन धर्म की लोहिया ने लोक के लिए व्याख्या की और विनोबा ने शास्त्र के लिए। ऐसा नहीं है कि लोहिया की व्याख्या अशास्त्रीय है और विनोबा की व्याख्या लोक विरुद्ध है, परन्तु दोनों की अदा अलग-अलग है। विनोबा ने गीता-प्रवचन किया। अन्य शास्त्रों पर भी विद्वतापूर्ण टीकाएँ लिखीं। लोहिया ने अपनी राजनीति में धर्म-संस्कृति के लोकोपयोगी मुद्दे उठाए। उन्होंने लोक धर्म की मर्यादा कायम करने वाले भाषण दिये। लेखन भी किया। ओंकार शरद द्वारा सम्पादित भारतमाता-धरतीमाता शीर्षक पुस्तक में लोहिया के सांस्कृतिक लेख संकलित है। इन लेखों में गांधीजी के सांस्कृतिक विमर्श को विस्तार मिला है। उदाहरण के लिए लोहिया लिखते हैं कि तुलसीदास एक रक्षक कवि थे। जब चारो तरफ से अझेल हमले हों तो बचाना, थामना, टेक देना, शायद ही तुलसीदास से बढ़कर कोई कर सकता है। जब साधारण शक्ति आ चुकी हो, फैलाव, खोज, प्रयोग, नूतनता और महाबल अथवा महा-आनन्द के लिए दूसरी या पूरक कविता ढूँढ़नी होगी। उसी तरह लोहिया कहते हैं कि वे जब राम, कृष्ण और शिव कहते हैं तो

जाहिर है उनकी बीबियों को शामिल कर लेते हैं। तथा उनके सेवकों को भी शामिल कर लेते हैं। क्योंकि ऐसे भी इलाके हैं जहाँ हनुमान चलते हैं, इसके साफ माने है कि वहाँ राम चलते हैं; ऐसे इलाके हैं जहाँ काली और दुर्गा चलती हैं, इसके साफ माने है कि वहाँ शिव चलते हैं। हिन्दुस्तान के इलाके हैं जहाँ पर इन तीनों ने अपना दिमागी साम्राज्य बना रखा है। दिमागी साम्राज्य भी रहा करता है—विचारों का और किंवदन्तियों का।

मोटे तौर पर 1951-52 के आम चुनाव में शिव का इलाका वह इलाका था जहाँ कम्युनिस्ट नम्बर दो हुए थे। उसी तरह कृष्ण का इलाका वह था जहाँ संघ और रामराज्य परिषद वाले नम्बर दो हुए थे। मोटे तौर पर राम का इलाका वह था जहाँ सोशलिस्ट नम्बर दो हुए थे। कांग्रेस हर जगह नम्बर एक हुई। यह भारतीय राजनीति पर एक अनोखी दृष्टि है जो परम्परा से निकली है। परम्परा और प्रयोग के प्रति जैसा समर्पण गांधीजी में था। लोहिया वही गुण तुलसीदास या राम, कृष्ण और शिव के बहाने अभिव्यक्त करते हैं। लोहिया भक्ति आन्दोलन की सांस्कृतिक उपज थे और उनके गैर-कांग्रेसवादी राजनीति को समझने के लिए उनके उपरोक्त विचारों के मर्म को समझना आवश्यक है। गांधी के रामराज्य की अवधारणा को लोहिया तुलसी के रामचरित मानस में खोजते हैं और लोकजागरण के लिए रामायण मेला आयोजित करते हैं। यह तिलक महाराज के गणेश महोत्सव और महात्मा गांधी के आश्रमों में भजन-कीर्तन की परम्परा का विस्तार नहीं तो और क्या है? वे कहते हैं कि तुलसीदास जैसी समन्यवादी दृष्टि स्वतंत्र हिन्दुस्तान को बहुत ठोकर खाने के बाद ही मिलेगी और भारत के समाजवादी आन्दोलन के इतिहास में इन्हीं ठोकरों को खाकर गिरते-पड़ते गैर-कांग्रेसवादी विकल्प खड़ा करने की कोशिश हमें सदैव दिखती रही है। लोहिया कहते हैं कि तुलसी या और किसी भी रामायण में सामयिक और क्षण-भंगुर चीजें बहुत हैं। ये उस युग की प्रतीक हैं। ऐसे सब वर्णनों में तुलसी या और किसी छवि का दोष नहीं है। दोष अगर है तो समय का है, परन्तु तुलसी के मानस में कालजयी तत्त्वों की भी कमी नहीं है। लोहिया के शब्दों में आनन्द, प्रेम और शान्ति का आह्वान तो रामायण में है ही, पर हिन्दुस्तान की एकता जैसा लक्ष्य भी स्पष्ट है। सभी जानते हैं कि राम हिन्दुस्तान के उत्तर-दक्षिण की एकता के देवता थे और कृष्ण पूर्व-पश्चिम की एकता के देवता थे।

लोहिया के अनुसार, आधुनिक भारतीय भाषाओं का मूल-स्रोत राम-कथा है। कम्बन की 'तमिल रामायण', एकनाथ की 'मराठी रामायण', कीर्तिवास की 'बंगला रामायण' और ऐसी ही दूसरी रामायणों ने अपनी-अपनी भाषा को जन्म और संस्कार दिया। तुलसीदास के 'रामायण' की धार्मिक कविता ऐसी है कि जैसी, शायद दुनिया भर में और कोई कवित्वमय काव्य नहीं है। 'रामायण' जिस किसी विषय पर जो कुछ कहती है उसे पवित्र बना देती है। लोहिया यह भी कहते हैं कि शूद्र और पिछड़े वर्गों के मामलों में 'रामायण' में काफी अविवेक भी है, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि शूद्र को हीन बनाने की जितनी चौपाइयाँ हैं, उनमें से अधिकांश कुपात्रों ने कही हैं अथवा कुअवसर पर इसे समय को दोष और कवि को समय का शिकार समझकर 'रामायण' का रस पान करना चाहिए।

इसीलिए लोहिया कहते हैं कि आर्य, द्रविड और मंगोल भेद भारतीय सन्दर्भ में विदेशियों द्वारा गढ़े गये हैं। समकालीन सन्दर्भ में ये बिल्कुल झूठे भेद हैं। इसी झूठ के सहारे हिन्दुस्तान का पूरा इतिहास, साहित्य, भूगोल और संस्कृति इत्यादि अब तक पढ़ाये जाते हैं, इससे अनर्थ हो रहा है। भारत की भाषाओं का वर्गीकरण झूठा है। तमिल का मैलम और संस्कृत-हिन्दी का मयूरम् एक ही है। 'यू' और 'ए' अथवा 'रे' और 'ल' का परिवर्तन भाषाशास्त्र का एक मान्य नियम है। केवल कुछ गिनतियों अथवा कुछ आरम्भिक शब्दों के आधार पर आर्य, द्रविड, मंगोल या आस्ट्रिक भाषाओं का बतंगड खड़ा कर देना मूर्खता है।

इसी तरह लोहिया यह भी कहते हैं कि हिन्दुस्तान में कुछ कर्मकाण्ड और कुछ ब्रह्मज्ञान इस ढंग का रहा है कि जिसके परिणाम स्वरूप आज भी हजारों बरस के बाद भी अपना देश परिवर्तन नहीं कर पाता। 1908 के आस-पास गांधीजी ने कहा है कि हिन्दुस्तान में ऐसी खूबी है कि हमलोग स्थिर रहते हैं, जमे हुए रहते हैं, जल्दी किसी चीज को अपनाते नहीं और दूसरे लोग किसी भी हवा के तेज झोंके के साथ बह जाया करते हैं। इकबाल ने भी कहा कि यूनान, मिस्र, रोम जहाँ से मिट गये, बाकी बचा है हमारा हिन्दुस्तान। अत: सारे जहाँ से हिन्दुस्तान अच्छा है। यह भी कोई बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी। लोहिया कहते हैं ऐसे बचने से आखिर क्या फायदा? हजार डेढ़ हजार बरस से हिन्दू खाली नन्ही दूब की तरह झूकना जानता है, दबना जानता है,

मर्यादा खींचना नहीं जानता। जाने कितनी हवा के झोके आते हैं, हम हिन्दू लोग दूब की तरह सिर झुका कर बच जाया करते हैं। लोहिया पूछते हैं कि हिन्दुस्तान क्यों इतनी बार गुलाम हो जाता है, क्यों इतने लम्बे अरसे तक गुलाम हो जाता है। लोहिया कहते हैं कि कहीं कोई खराबी है और लोहिया की नजर में खराबी बिल्कुल साफ है कि हम झुक जाते हैं, बहुत दबते हैं, हर चीज के साथ हम समझौता कर लेते हैं और हमारे सोचने के तरीके बहुत गंदे हो गये हैं। जब तक हम अपने सोचन के ढंग को नहीं बदलेंगे, तब तक अपने देश की इन कमजोरियों से छुटकारा नहीं पा सकते। लोहिया की नजर में भारतीय जड़ता की सबसे प्रमुख निशानी जाति प्रथा है। जातियों में हम लोग बँटे हुए हैं। हजारों जातियाँ हैं। करीब दस हजार उप-जातियाँ हैं। जाति एक तरह से बीमा कम्पनी है शादी, पैदाइश, मौत, बेकारी सभी मौके पर जाति काम आती है, परन्तु जातियाँ भारत में शुरू से नहीं थी। ऋग्वेद में केवल एक शब्द था, विष, जो उस जमाने के लोगों के लिए इस्तेमाल किया जाता था।

ऐसा हो सकता है कि इस विष का लोगों में समय के अनुसार बँटवारा होता चला गया। इनसे जातियाँ निकलीं। इन जातियों के होने के कारण बँधाव आ गया। लोगों का मन बन्ध गया और हर एक आदमी अपनी जगह पर थोड़ा बहुत सन्तुष्ट है। वह चाहे जितना दुखी है, चाहे जितना सताया हुआ है, चाहे जितना दरिद्र है, लेकिन अपनी जगह पर सुखी है। अपने बदलाव को भी वह नहीं पसन्द करता। इसके अच्छे और बुरे दोनों पक्ष हैं। अच्छा पक्ष यह है कि हमारी अपनी भाषा, हमारा अपना संगीत, हमारे अपने सोचने के तरीके, हमारा अपना दर्शन, उसी के नींव के ऊपर हम आगे बढ़ने की कोशिश करते हैं। बुरा पक्ष यह है कि यह राष्ट्रीय एकता में बाधक है। यह दूब की तरह झुककर अस्तित्व रक्षा के लिए आत्म-समर्पण करना सिखलाता है। हिन्दुओं में तेजस्विता की कमी है। तेजस्विता लाने की कोशिश करना जरूरी है। मर्यादा के मुताबिक परिवर्तन करना, अपनी जनता को प्राणवान बनाना, जाति प्रथा को खत्म करना, ब्रह्म ज्ञान पाने की कोशिश करना जरूरी है। तेजस्विता लाने का एक सबसे बड़ा तरीका है हिन्दुस्तानी या हिन्दी भाषा का राष्ट्रभाषा के रूप में विकास करना। अंग्रेजी भाषा भारतीय सन्दर्भ में एक सामंती भाषा है। उसे इस देश से बाहर करना चाहिए। अंग्रेजी भाषा नहीं है बल्कि हमारी गुलामी का और हमारी जड़ता का प्रतीक है। अंग्रेजी

की जगह हिन्दुस्तानी हिन्दी को प्रतिष्ठित किये बिना हम प्राणवान देश हो ही नहीं सकते। हिन्दी का प्रचार बन्द करो, हिन्दी का जो रचनात्मक काम है वह करो। जो लोग हिन्दी नहीं जानते, उनको या उनके बच्चों को हिन्दी पढ़ाने के लिए स्कूल चलाओ। आज पैसा, इज्जत और शान अंग्रेजी में है। नौकरी पाने की सम्भावना अंग्रेजीदां को ज्यादा है। देश की सरकार और बड़े उद्योगपति अंग्रेजी में अपना काम करते हैं। लेकिन प्रतीकात्मक रूप से हिन्दी के प्रचार पर दो-चार करोड़ खर्च करके पल्ला झाड़ लिया जाता है। हिन्दी तो तब प्रतिष्ठित होगी जब अंग्रेजी हिन्दुस्तान के लिए हमेशा के लिए खत्म हो जायेगी। हम अंग्रेजी के बगल में हिन्दी को नहीं बैठा सकते। हम हिन्दी के बगल में हिन्दुस्तान की अन्य भाषाओं को अवश्य बैठा सकते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि लोहिया के विचार महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं विनोबा भावे के विचारों का रचनात्मक विस्तार है और जवाहरलाल नेहरू की पश्चिम परस्त, अंग्रेजी परस्त, सामंतवादी राजनीति एवं विचार के खिलाफ थे। लोहिया का गैर-कांग्रेसवाद नेहरू की अधिनायकवादी राजनीति के खिलाफ तो था ही, उनकी 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में वर्णित पाश्चात्य दृष्टि से भारत को देखने के भी खिलाफ था। वे गांधी के 'हिन्द स्वराज' को ही अपने समय की भाषा में व्याख्यायित कर रहे थे। चूँकि जवाहरलाल अपने को गांधीवादी कहते थे। अत: व्यंग से लोहिया खुद को कुजात गांधीवादी कहते थे। 1991 से भारत उदारीकरण और वैश्वीकरण की नीतियों पर चल रहा है। आज भारत का प्रभुवर्ग नेहरू की तुलना में ज्यादा पश्चिम परस्त है। डॉ. मनमोहन सिंह प्रधानमंत्री के रूप में अपने पहले कार्यकाल में अंग्रेजी राज की बरकत के गीत इंग्लैंड प्रवास में गाकर आ चुके हैं। गैर-कांग्रेसवाद का समाजवादी आन्दोलन राजनीतिक रूप से छिन्न-भिन्न हो चुका है लेकिन आज लोहिया के विचारों की प्रासंगिकता उनके जीवन काल से भी ज्यादा हो गई है। एक ऐसे समय में जब नेहरूवादी, अम्बेडकरवादी, हिन्दुत्ववादी और मार्क्सवादी सभी उदारीकरण और वैश्वीकरण के चारण बन चुके हैं, भारत की सांस्कृतिक अस्मित और आम आदमी के कुशल क्षेत्र के लिए गांधी और लोहिया की परम्परा हमारा एकमात्र सम्बल है।

गांधी ने भक्ति आन्दोलन और सिक्ख धर्म को पचा कर अपना 'सर्वोदय आन्दोलन' चलाया था। सिक्ख धर्म सनातन धर्म के अंर्तगत एक प्रकार का

सुधारवादी आन्दोलन था जिसका लक्ष्य सनातन धर्म में कार्य संस्कृति का सुधार था। नानक का अध्यात्मिक वंश चला। गुरु गोविंद सिंह को भी बन्दा बहादुर मिल गये। मास्टर तारा सिंह मिल गये। बीच में रणजीत सिंह मिल गये। लेकिन गांधी और अकबर का अध्यात्मिक वंश सम्प्रदाय/गुरुकुल नहीं चला। उनके सर्वोदय का वही हाल हुआ जो अकबर के दीन-ए-इलाही का हुआ था। इनका जन आन्दोलन के रूप में प्रचलन नहीं हो पाया। खासकर गांधी और अकबर के जाने के बाद एक प्रतिष्ठित अभिजात विमर्श में प्रतीकात्मक रूप से इसकी चर्चा होती रही। अकबर की बादशाहत चली। स्वतंत्रता आन्दोलन को गांधी ने जन आन्दोलन बनाया लेकिन न अकबर का दीन-ए-इलाही चला और न महात्मा गांधी का सर्वोदय चला। दोनों का बाद की पीढ़ी में काफी हद तक सहयोजन या को-ऑप्सन हो गया।

अपनी सारी सीमाओं के बावजूद लोहिया ने गांधी की राजनीति के मूल तत्वों को नेहरू के मुकाबले या राजगोपालाचारी के मुकाबले ज्यादा गम्भीरता से चलाना चाहा। इसमें लोहिया को भी आंशिक सफलता ही मिली। लोहिया का भी राजनीतिक वंश नहीं चल पाया। लोहिया के अनुयायी भी गांधी के अनुयायियों की तरह अवसरवादी निकले।

चीन में माओ और देंग ने चीनी अस्मिता और भाषा को बचाये रखकर चीन का विकास किया। रूस में स्तालिन और पुतिन के रूसी अस्मिता और भाषा को बचाये रखकर रूस का विकास किया। स्तालिन और माओ को फाउंडेशन बनाना था। इनसे ज्यादतियाँ हुई। लेकिन बिना माओ के फाउंडेशन के देंग को सफलता मिलना सम्भव नहीं था। बिना स्टालिन के फाउंडेशन के पुतिन को सफलता मिलना सम्भव नहीं था। स्टालिन और माओ ने अमेरिकी वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष करते हुए अपनी सांस्कृतिक अस्मिता बनाये रखा।

भारत अमेरिका की तरह सेटलमेंट कॉलोनी नहीं था कि अंग्रेजी भाषा और संस्कृति लाद दी जाती। आज भी अंग्रेजी भाषी लोग भारत में बहुसंख्यक नहीं हैं। भारत में उदारीकरण चीन की तरह भी नहीं चल सकता। भारत में बहुदलीय प्रजातंत्र और सांस्कृतिक विविधता है।

शिक्षा, शोध, चिकित्सा, दवा उद्योग और सैन्य उपकरणों का विश्व ग्राम के लिए उत्पादन भारत में होना चाहिए; यह पाँचों ज्ञान से सम्बन्धित उद्योग हैं।

आई. टी. उद्योग की तरह इनको भी भारत में शिफ्ट होने का ऐतिहासिक अवसर उपलब्ध है। जरूरत है विजनरी नेतृत्व की।

सितम्बर 2009 कांग्रेस पार्टी एवं यू.पी.ए. सरकार के लिए अच्छी सूचना लेकर नहीं आया है। राजशेखर रेड्डी की मृत्यु, गुजरात, यू.पी., मध्य प्रदेश, दिल्ली और बिहार के उपचुनाव के परिणाम कांग्रेस तथा सरकार के लिए अच्छी खबर नहीं है। 2014 में कांग्रेस को हरा सकती है। इसमें भाजपा की भूमिका गौण होगी। यह गैर-कांग्रेसी गठबन्धन की सरकार होगी। इसके लिए सांस्कृतिक आन्दोलन की भूमि तैयार करने में गांधी और लोहिया खाद और पानी का काम कर सकते हैं। संस्कृति का काम आम आदमी को जीवन और जगत के मूल प्रश्नों की अकुलाहट से बचा कर जिन्दगी की जद्दोजहद को प्रासंगिक बनाये रखने का होता है। लोहिया ने संस्कृति के इस महत्त्व को स्वतंत्रता आन्दोलन में गांधी के प्रयोगों से सीखा था और अपनी समझ से इसमें परिष्कार किया था।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- अभिनवगुप्त, 2002, श्रीतन्त्रालोकः, अनुवादक राधेश्याम चतुर्वेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- अभिनवगुप्त, 2002, तन्त्रसारः 'नीरक्षीर विवेक', हिन्दी भाष्य संवलितः, दो भाग, अनुवादक—परमहंस मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
- आत्रेय, भीखनलाल, 1986, योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, श्रीकृष्ण-जन्म स्थान सेवा-संस्थान, मथुरा।
- ओझा, मधुसूदन, 1990, ब्रह्मविज्ञान, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर।
- ओझा, मधुसूदन, 1990, ब्रह्म सिद्धान्त, अनुवादक देवीदत्त शर्मा चतुर्वेदी, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर।
- इकबाल, मुहम्मद, 1996, इस्लाम में धार्मिक चिन्तन की पुनर्रचना, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली।
- उपाध्याय, भरत सिंह, 1996, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (दो भागों में), मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।
- उपाध्याय, पं दीनदयाल, 2001, राष्ट्र-चिन्तन, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ।
- उपाध्याय, बलदेव, 2000, भारतीय धर्म और दर्शन, चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी।
- करपात्रीजी, स्वामी, 2003, भक्ति-सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, मथुरा।
- करपात्रीजी, स्वामी, 2003, श्रीभागवत-सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, मथुरा।
- कालेलकर, काकासाहब, 2000, गांधीजी का रचनात्मक कांतिशास्त्र, खण्ड-1 एवं 2, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद।

- कविराज, गोपीनाथ, 1984, भारतीय साधना की धारा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
- केडिया, कुसुमलता और मिश्र, रामेश्वर, गांधीजी और ईसाइयत, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।
- कुमार, जैनेन्द्र, 2001, गांधी और हमारा समय, पूर्वोदय प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- गांधी, मो. क., 1999, हिन्द स्वराज, अनुवादक—अमृतलाल ठाकोरदास नाणवटी, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद।
- गांधी, मो. क., 2002, धर्म नीति, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, इलाहाबाद।
- गुप्त, महेन्द्र नाथ, 2003, श्रीरामकृष्ण वचनामृत (प्रथम एवं द्वितीय भाग) हिन्दी अनुवाद—सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', रामकृष्ण मठ, नागपुर।
- गोयनका, सत्यनारायण, 2003, राजधर्म कुछ ऐतिहासिक प्रसंग, बुद्धवाणी के परिप्रेक्ष्य में, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी।
- धर्माधिकारी, दादा, 1998, गांधी की दृष्टि, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
- धर्माधिकारी, दादा, 1998, गांधी की दृष्टि अगला कदम, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
- धर्मपाल, 1994, भारत का स्वधर्म, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर।
- धर्मपाल, 2003, भारत की पहचान धर्मपाल की दृष्टि में, सिद्ध, मसूरी।
- चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा, 2000, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
- चतुर्वेदी, मिथिलेश, अनु., 1992, शब्दार्थ मीमांसा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- झुनझुनवाला, लक्ष्मीनिवास, 2004 विश्व धर्म सम्मेलन, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।
- जायसवाल, सुवीरा, 1996, वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, ग्रन्थ शिल्पी, नयी दिल्ली।
- जैन, गोकुलचन्द्र, सं., 1983, संकाय पत्रिका श्रमणविद्या (भाग 1 एवं 2), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

- तिलक, बाल गंगाधर, 2002, श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, हिन्दी अनुवाद माधवरावजी सप्रे, तिलक बन्धु, पुना।
- तिरुवल्लकर, सन्त, 1989, तमिल वेद, सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली।
- तिवारी, रामचन्द्र, सं., 2003, रामचन्द्र शुक्ल संचयिता, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- द्विवेदी, दशरथ, सं., 2000, अभिनव रस सिद्धान्त, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
- नारायण, जयप्रकाश, 1999, लोक-स्वराज, सर्व-सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
- परळीकर, सच्चिदानन्द, 2002, लोकनायक समर्थगुरु रामदास, लोकभारती, इलाहाबाद।
- पांडे, गोविन्द चन्द्र 1986, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
- पांडे, गोविन्द चन्द्र 1990 बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
- 'विशारद' पाण्डेय, रामलग्न, 1986, शिव पुराण भाषा, ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार, वाराणसी।
- पारेख, नगीनदास, सं. 1974, अभिनव का रस-विवेचन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
- पुषराज, 1994, सनातन धर्म और महात्मा गांधी, श्रीविनायक प्रकाशन, दिल्ली।
- बनवारी—पंचवटी, श्रीविनायक प्रकाशन, दिल्ली।
- बनवारी—महारास : प्रकृति, उत्सव और समाज, श्रीविनायक प्रकाशन, दिल्ली।
- बेगम, नूरजहाँ और हेगड़े, नन्दकुमार, 2004, किस प्रकार की है यह भारतीयता?, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।
- भगवद्दत्त, पण्डित, 2004, निरुक्त शास्त्रम्, रामलाल कपूर ट्रस्ट, हरियाणा।
- भारतीय, भवानीलाल, 2002, युग-प्रवर्तक स्वामी दयानन्द, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली।

- भारतीय, भवानीलाल, 2004, योगिराज श्रीकृष्ण, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली।
- मशरूवाला, कि. घ., 1959, शिक्षा में विवेक, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद।
- माधवाचार्य, 2001, सर्व दर्शन संग्रह, अनुवादक उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- मिश्र, विद्यानीवास, 1973, रीतिविज्ञान सर्जनात्मक समीक्षा का नया आयाम, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
- मिश्र, विद्यानीवास, 1979, हिन्दू धर्म : जीवन में सनातन की खोज, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- मिश्र, विद्यानीवास, 1989, भारतीयता की पहचान, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- मिश्र, विद्यानीवास, 1993, राहुल चयनिका, एन.बी.टी., नयी दिल्ली।
- मिश्र, विद्यानीवास- 2000, लोक और लोक का स्वर, प्रभात प्रकाशन नयी दिल्ली।
- मंत्री, गणेश, 2004, गांधी और अम्बेडकर, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- लोढ़ा, कल्याणमल और मिश्र, वसुन्धरा, सं., 2002, धर्म, दर्शन और विज्ञान में रहस्यवाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
- रत्तू, नानकचन्द, 2004, डॉ. अम्बेडकर जीवन के अन्तिम कुछ वर्ष, किताब घर प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- रामतीर्थ, स्वामी, 1991, सनातन धर्म, श्री रामतीर्थ प्रतिष्ठान, लखनऊ।
- राव, यू.आर. तथा प्रभु आर.के. (सं.), 2002, महात्मा गांधी के विचार, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली।
- राव, यू. एस. मोहन (सं.), 1994, गांधीजी : शब्द चित्र और श्रद्धांजलियाँ, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली।
- लाजपतराय, लाला, 2003, छत्रपति शिवाजी, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली।
- वर्मा, निर्मल, 1991, भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र, राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली।
- वर्मा, निर्मल, 2000, पत्थर और बहता पानी, वाग्देवी पॉकेट बुक्स, बीकानेर।
- विनोबा, 1995, गीता-प्रवचन, सर्व-सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।

- विद्यावारिधि, धर्मवीर, 1989, वैदिक-निघण्टु-सङ्ग्रहः, प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र, दिल्ली।
- विवेकानन्द, स्वामी, 2002, विवेकानन्द साहित्य (खंड 1 से 10), अद्वैत आश्रम, कोलकाता।
- शर्मा, अमित कुमार, 2006, भारतीय संस्कृति का स्वरूप, कौटिल्य प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- शर्मा, अमित कुमार, 2011, हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता, कौटिल्य प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- शर्मा, अमित कुमार, 2020, भारत में सिनेमा और संस्कृति, शाओलिन पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।
- शर्मा, अमित कुमार, 2022, सनातन धर्म का व्यावहारिक स्वरूप, शाओलिन पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।
- शुक्ल, रामचन्द्र 1985, लोकजागरण और हिन्दी साहित्य, रामविलास शर्मा सं., वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- शुक्ल, रामचन्द्र, संवत 2048, रस मीमांसा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
- शुक्ल, रामचन्द्र, 2002, चिन्तामणि-4, सम्पादक कुसुम चतुर्वेदी, ओमप्रकाश सिंह, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य शोध संस्थान, वाराणसी।
- शाह, कान्तिभाई सं., 1997, गांधी : जैसा देखा-समझा विनोबा ने, सर्व-सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
- शास्त्री, मोतीलाल, 1995, अथर्ववेदीय-प्रश्नोपनिषत्, हिन्दी विज्ञान भाष्य, राजस्थान पत्रिका, प्रकाशन, जयपुर।
- श्री गुरुजी समग्र संकलन समिति, माघ कृष्ण एकादशी युगाब्द 5106, श्री गुरुजी समग्र, खंड 1 से 12, डॉ. हेडगेवार स्मारक समिति, नागपुर।
- श्री गुरुजी (मा. स. गोलवलकर), 1991, राष्ट्र, जानकी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- सप्रे, ना. वि., 2000, महाराष्ट्र के सन्त-महात्मा, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी।
- सप्रे, ना. वि., 2005, समर्थ रामदास, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी।
- सहस्त्रबुद्धे, पु.ग. 2003, हिन्दू-समाज संघटन और विघटन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
- सहगल, मनमोहन, अनु., 1995, आदि श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, खण्ड 1 से 4, भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ।

- सरकार, सुशोभन, 1997, बंगला नवजागरण, ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली।
- सरकार, सुमित, 2002, बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन (1903-1908), ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली।
- हालदार, मोहितकुमार, 2000, भारतीय नवजागरण और पुनरुत्थानवादी चेतना, ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली।
- त्रिपाठी, जयशंकर लाल, 1985, काशिका न्यास-पद्मंजरी-भावबोधिनी-संहिता (भाग 1 से 10), तारा बुक एजेंसी, वाराणसी।
- त्रिवेदी, भवानीशंकर (सं.), 1992, भारत की विश्व को देन, राजधानी ग्रन्थागार, नयी दिल्ली।
- द्विवेदी, हजारी प्रसाद, 1981, लालित्य तत्त्व एवं साहित्य मर्म, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
- भरतमुनि, 2009, नाट्यशास्त्र, चौखम्भा पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली।
- अज्ञेय, स. ही. वात्स्यायन, 1997, आदम की डायरी, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर।
- अज्ञेय, स. ही. वात्स्यायन, 2010, साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली।
- अज्ञेय, स. ही. वात्स्यायन, 2011, हीरानन्द शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला 1 और 2 भाग, सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली।
- चतुर्वेदी, रामस्वरूप, 2000, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली।
- रे, रविन्द्र, 2017, परम्परा और समकालीन सभ्यता, हिन्दी कमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

Bibliography

- Abhedananda, S. (1971). The complete works of Swami Abhedananda (Vols. 1-10). Ramakrishna Vedanta Math, Calcutta, India.
- Ahmed, A. S., & Hart, D. M. (Eds.). (1984). Islam in tribal societies: From the Atlas to the Indus. Routledge & Kegan Paul, London, UK.
- Ahmed, I. (Ed.). (2010). Ritual and religion among Muslims in India. Danish Books, New Delhi, India.
- Alvares, C. (1991). Decolonizing history: Technology and culture in India, China and the West 1492 to the present day. The Other India Press, Goa, India.
- Ambedkar, B. R. (2006). Buddha and his dhamma. Siddhartha Books, New Delhi, India.
- Appadorai, A. (1987). Indian political thinking in the twentieth century. South Asian Publishers, New Delhi, India.
- Appadorai, A. (1997). Modernity at large: Cultural dimensions of globalization. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Archer, M. S. (1995). Realist social theory: The morphogenetic approach. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Arntzenius, L. G. (2011). Institute for Advanced Study. Arcadia Publishing, Mount Pleasant, SC, USA.
- Aurobindo, S. (1993). Essays on the Gita. Sri Aurobindo Society, Pondicherry, India.
- Aurobindo, S. (1996). On nationalism. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, India.

- Aurobindo, S. (1998). The foundations of Indian culture. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, India.
- Baird, R. D. (2001). Religion in modern India. Manohar, New Delhi, India.
- Balachandran, G. (2003). India and the world economy 1850-1950. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Balagangadhara, S. N. (1994). The heathen in his blindness: Asia, the West and the dynamic of religion (Studies in the History of Religions, Vol. 64). Brill Academic, Leiden, Netherlands.
- Balagangadhara, S. N. (2012). Reconceptualizing India studies. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Balagangadhara, S. N. (2014). Do all roads lead to Jerusalem? The making of Indian religions. Manohar Publishers, New Delhi, India.
- Balagangadhara, S. N., & Rao, S. (2021). What does it mean to be 'Indian'?. Notion Press, Chennai, India.
- Bali, D. R. (1984). Modern Indian thought. Sterling Publishers, New Delhi, India.
- Barry, P. (2007). Beginning theory. Manchester University Press, Manchester, UK.
- Barth, A. (1995). The religions of India. Low Price Publications, New Delhi, India.
- Baudrillard, J. (2013). The intelligence of evil or the lucidity pact. Bloomsbury, New Delhi, India.
- Bauman, Z. (1976). Towards a critical sociology. Routledge, London, UK.
- Baur, M., & Baur, S. A. (Eds.). (2006). The Beatles and philosophy: Nothing you can think that can't be thunk. Open Court, Chicago, IL, USA.
- Beauchamp, H. K., & Dubois, A. J. (1999). Hindu manners, customs and ceremonies. Low Price Publications, New Delhi, India.
- Bell, C. (1995). Ritual theory, ritual practice. Oxford University Press, New Delhi, India.

- Bellah, R. N. (1967). Civil religion in America. Daedalus: Journal of the American Academy of Arts and Sciences, 96(1), 1-21. American Academy of Arts and Sciences, Cambridge, MA, USA.
- Berger, P. L., & Kellner, H. (1981). Sociology reinterpreted. Penguin, London, UK.
- Berger, P. L., & Luckmann, T. (1966). The social construction of reality: A treatise in the sociology of knowledge. Anchor Books, New York, NY, USA.
- Bharati, D. (2010). Understanding Hinduism. Munshiram Manoharlal, New Delhi, India.
- Bhargava, R. (Ed.). (1998). Secularism and its critics. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Bhattacharya, S. (Ed.). (1999). The Mahatma and the poet: Letters and debates between Gandhi and Tagore 1915-1941. National Book Trust, New Delhi, India.
- Blavatsky, H. P. (1980). Studies in occultism. New Age Books, New Delhi, India.
- Bloom, H. (2005). Deconstruction and criticism. Viva Books, Chennai, India.
- Borden, C. M. (Ed.). (1989). Contemporary India: Essays on the uses of tradition. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Bose, N. K. (1948). Selections from Gandhi. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Bose, N. K. (1972). Studies in Gandhism. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Bose, N. K. (1974). My days with Gandhi. Orient Longman, New Delhi, India.
- Bose, N. K. (1975). The structure of Hindu society. Orient Longman, New Delhi, India.
- Boudon, R., et al. (Eds.). (1997). The classical tradition in sociology: The European tradition (Vol. 1). Sage, New Delhi, India.
- Bourdieu, P. (1991). Language and symbolic power. Harvard University Press, Cambridge, MA, USA.

- Breckenridge, C. A. (Ed.). (1995). Consuming modernity. University of Minnesota Press, Minneapolis, MN, USA.
- Bulmer, M., & Burgess, R. G. (1986). Do concepts, variables, and indicators interrelate? In R. G. Burgess (Ed.), Key variables in social investigation (pp. 1-20). Routledge, London, UK.
- Butler, E. P. (2022). Polytheism and Indology: Lessons from The Nay Science. IndicAcademy, New Delhi, India.
- Chakravarty, S. C. (1993). Talks with Swami Vivekananda. Advaita Ashram, Belur Math, India.
- Chandra, B. (1984). The rise and growth of economic nationalism in India. Har Anand Publications, New Delhi, India.
- Chandra, B., Mukherjee, M., Mukherjee, A., Panikkar, K. N., & Mahajan, S. (1989). India's struggle for independence 1857-1947. Penguin Books, New Delhi, India.
- Chatterji, L. (Ed.). (1986). Woman image text: Feminist readings of literary texts. Trianka Publication, New Delhi, India.
- Chaturvedi, B. (1993). Dharma: India and the world order. Saint Andrew Press, Edinburgh, UK.
- Chaubey, B. B. (1992). Research projects of the Vishveshvaranand Vishwa Bandhu Institute of Sanskrit and Indological Studies, Hoshiarpur. In S. Lokeswarananda (Ed.), Indology studies and research in India (pp. 50-65). The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, India.
- Chetananda, S. (Ed.). (1996). Swami Vivekananda: Vedanta voice of freedom. Advaita Ashrama, Calcutta, India.
- Clausewitz, C. V. (1992). On war. Princeton University Press, Princeton, NJ, USA.
- Cohn, B. S. (1997). Colonialism and its forms of knowledge: The British in India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Collins, R. (1981). Sociology since mid-century: Essays in theory cumulation. Academic Press, New York, NY, USA.

- Compilation. (1996). Gandhi's life in his own words. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Connolly, P. (1999). Approaches to the study of religion. Cassell, London, UK.
- Coomaraswamy, A. K. (1942). Spiritual authority and temporal power in the Indian theory of government. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1981). Figures of speech or figures of thought. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1987). What is civilization? And other essays. IGNCA and Oxford University Press, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1989). Time and eternity. Select Books, Bangalore, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1994). Art and Swadeshi. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1994). The transformation of nature in art. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1996). Hinduism and Buddhism. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (1999). Introduction to Indian art. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (2002). A new approach to the Vedas: An essay in translation and exegesis. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (2004). The Indian craftsman. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Coomaraswamy, A. K. (2013). The dance of Shiva: Fourteen essays. Rupa Publications, New Delhi, India.
- Craig, W. L. (2001). Time and eternity. Crossway Books, Wheaton, IL, USA.
- Dallmayr, F., & Devy, G. N. (Eds.). (1998). Between tradition and modernity: India's search for identity. Sage Publications, New Delhi, India.

- Dale, G., & Polanyi, K. (2010). The limit of the market. Polity Press, Cambridge, UK.
- Das, B. (1990). Essential unity of all religions. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- Das, V. (2018). Critical events. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Derett, J. D. M. (1999). Religion, law and the state in India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Derrida, J. (1994). Of grammatology. Motilal Banarsidass, New Delhi, India.
- Derrida, J. (2003). Writing and difference. Routledge, New Delhi, India.
- Desai, A. R. (1959). Social background of Indian nationalism. Popular Prakashan, Mumbai, India.
- Desai, I. P. (1981). The craft of sociology and other essays. Narita Publications, New Delhi, India.
- Desai, M. (1995). The gospel of selfless action or the Gita according to Gandhi. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Dev, B. (2001). Bipin Chandra Pal. Samskriti, New Delhi, India.
- Dhanagare, D. N. (1985). Sociology and social anthropology in South Asia: India. In Sociology and social anthropology in Asia and the Pacific (pp. 313-360). UNESCO and Wiley Eastern, New Delhi, India.
- Dhanagare, D. N. (1993). Themes and perspectives in Indian sociology. Rawat, Jaipur, India.
- Dharampal. (1971). Civil disobedience & Indian tradition. Sarva Seva Sangh Prakashan, Varanasi, India.
- Dharampal. (1993). Bharatiya chitta manas and kala. Centre for Policy Studies, Madras, India.
- Dharampal. (1999). Despoliation and defaming of India: The early nineteenth century British crusade. Other India Press, Goa, India.
- Dharampal. (2000). The beautiful tree: Indigenous Indian education in the eighteenth century. Other India Press, Goa, India.

- Dharampal. (2000). Essays on tradition, recovery and freedom. Other India Press, Goa, India.
- Dharampal. (2003). Rediscovering India. Society for Integrated Development of Himalayas, New Delhi, India.
- Dharampal. (2003). Understanding Gandhi. Other India Press, Goa, India.
- Dharwedkar, A. B. (2006). Theatres of independence: Dharma, theory and urban performance in India since 1947. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Diamond, S. (1974). In search of the primitive. Transaction-Dutton, New Brunswick, NJ, USA.
- Dirks, N. B. (2003). Castes of mind. Permanent Black, New Delhi, India.
- Diwan, R., & Lutz, M. (Eds.). (1985). Essays in Gandhian economics. Gandhi Peace Foundation, New Delhi, India.
- Downey, P. (2009). Desperately wicked: Philosophy, Christianity and the human heart. IVP Academic, Downers Grove, IL, USA.
- Dube, S. C. (Ed.). (1976). Social science realities: Role of social sciences in contemporary India. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Dumont, L. (1970). Religion, politics and history in India. Mouton, Paris, France.
- During, S. (Ed.). (1993). The cultural studies reader. Routledge, London, UK.
- Durkheim, E. (1995). The elementary forms of religious life. Free Press, New York, NY, USA.
- Dutt, R. C. (1960). The economic history of India under early British rule. Routledge, New Delhi, India.
- Eagleton, T. (2000). Literary theory: An introduction (2nd ed.). Doaba Publication, New Delhi, India.
- Eck, D. L. (2012). India: A sacred geography. Harmony Books, New York, NY, USA.
- Eisenstadt, S. N. (1976). The form of sociology: Paradigms and crises. Wiley, New York, NY, USA.

- Eliade, M. (1958). Patterns in comparative religion (R. Sheed, Trans.). Sheed & Ward, New York, NY, USA.
- Eliade, M. (1959). The sacred and the profane: The nature of religion (W. Trask, Trans.). Harcourt, Brace & World, New York, NY, USA.
- Erasov, B., & Singh, Y. (2010). The sociology of culture. Rawat Publications, Jaipur, India.
- Evans-Pritchard, E. E. (1965). Theories of primitive religion. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Fabian, J. (1983). Time and the other: How anthropology makes its objects. Columbia University Press, New York, NY, USA.
- Fahim, H. (1983). Indigenous anthropology in non-Western countries. Carolina Academic Press, Durham, NC, USA.
- Felton, M. (2003). Rajaji. Katha, New Delhi, India.
- Feyerabend, P. (1978). Science in a free society. Verso, London, UK.
- Fine, W. F. (1979). Progressive evolutionism and the making of American sociology, 1890-1920. UMI Research Press, Ann Arbor, MI, USA.
- Flood, G. (Ed.). (2003). The Blackwell companion to Hinduism. Blackwell, Oxford, UK.
- Foucault, M. (2002). The order of things: An archaeology of the human sciences. Routledge, London, UK. (Original work published 1966)
- Frank, A. G. (1998). ReORIENT: Global economy in the Asian age. Vistaar Publications, New Delhi, India.
- Freeman, D. (1984). Margaret Mead and Samoa: The making and unmaking of an anthropological myth. Penguin, Harmondsworth, UK.
- Freud, S. (1999). Totem and taboo. Routledge, London, UK.
- Fuller, A. R. (1994). Psychology and religion: Points of view (3rd ed.). Littlefield Adams, London, UK.
- Fuller, C. J. (1992). The camphor flame: Popular Hinduism and society in India. Viking, New Delhi, India.

- Gabilondo, J. (2004). Performing populism: A queer theory of globalization, terror, and spectacle (On Lord of the Rings and 9/11/2001). In B. Aretxaga et al. (Eds.), Empire & terror: Nationalism/postnationalism in the new millennium (pp. 237-264). Centre for Basque Studies, Reno, NV, USA.
- Gandhi, L. (2004). Postcolonial theory. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Gandhi, M. K. (1971). Path-way to God. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1983). An autobiography. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1987). The essence of Hinduism (V. B. Kher, Ed.). Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1996). My religion (B. Kumarappa, Ed.). Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1997). Satyagraha in South Africa. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1999). India of my dreams (R. K. Prabhu, Comp.). Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1999). Key to health. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (1999). Nature cure (B. Kumarappa, Ed.). Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (2001). The selected works of Mahatma Gandhi (Vols. 1-5) (S. Narayan, Ed.). Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gandhi, M. K. (2002). Gandhi, freedom, and self-rule (A. J. Parel, Ed.). Vistaar Publication, New Delhi, India.
- Gandhi, R. (1995). The good boatman: A portrait of Gandhi. Centre for Policy Research, New Delhi, India.
- Gandhi, R. (2017). Why Gandhi still matters. Aleph Book Company, New Delhi, India.
- Ganeri, J. (2009). Philosophy in classical India: The proper work of reason. Motilal Banarsidass Publishers, New Delhi, India.

- Ganguli, B. N. (1977). Indian economic thought: Nineteenth century perspectives. Tata McGraw-Hill, New Delhi, India.
- Geertz, C. (1973). The interpretation of cultures. Basic Books, New York, NY, USA.
- Geertz, C. (1988). Works and lives: The anthropologist as author. Stanford University Press, Stanford, CA, USA.
- Gellner, E. (1981). Muslim society. Cambridge University Press, New York, NY, USA.
- Gellner, E. (1995). Anthropology and politics in the sacred grove. Blackwell, Oxford, UK.
- Gendzier, I. (1985). Managing political change: Social scientists and the Third World. Westview Press, Boulder, CO, USA.
- Gerber, W. (1977). The mind of India. Southern Illinois University Press, Carbondale, IL, USA.
- Gerhardt, U. (2002). Talcott Parsons: An intellectual biography. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Ghosh, A. (2002). The Imam and the Indian. Ravi Dayal Publisher, New Delhi, India.
- Ghurye, G. S. (1973). I and other explorations. Popular Prakashan, Mumbai, India.
- Golde, P. (Ed.). (1970). Women in the field: Anthropological experiences. Aldine Publishing, Chicago, IL, USA.
- Goldschmidt, W. (Ed.). (1976). The uses of anthropology. American Anthropological Association, Washington, DC, USA.
- Gopal, L., & Dubey, D. P. (Eds.). (1990). Pilgrimage studies: Text and context. The Pilgrimage Studies, Allahabad, India.
- Gopal, S. (2004). Jawaharlal Nehru: A biography. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Gora. (1986). An atheist with Gandhi. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Gouldner, A. (1970). The coming crisis of Western sociology. Basic Books, New York, NY, USA.

- Green, M. (1992). Prophets of a new age: The politics of hope from the eighteenth through the twenty-first centuries. Scribners, New York, NY, USA.
- Greenwood, E. B. (1980). Tolstoy: The comprehensive vision. Methuen & Co., London, UK.
- Gregorios, P. M. (1989). Enlightenment: East and West. B.R. Publishing Corporation, New Delhi, India.
- Guenon, R. (2002). Studies in Hinduism. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Guha, R. (1999). Savaging the civilized: Verrier Elwin, his tribals and India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Guha, R. (2001). An anthropologist among the Marxists. Permanent Black, New Delhi, India.
- Guldin, G. E. (1994). The saga of anthropology in China: From Moscow to Mao. M.E. Sharpe, Armonk, NY, USA.
- Halbfass, W. (1988). India and Europe: An essay in understanding. State University of New York Press, Albany, NY, USA.
- Halbfass, W. (1991). Tradition and reflection: Explorations in Indian thought. State University of New York Press, Albany, NY, USA.
- Halmos, P. (1966). Japanese sociological studies (A Sociological Review Monograph). University of Keele Press, Keele, UK.
- Hay, S. (Ed.). (1992). Sources of Indian tradition: Vol. 2. Modern India and Pakistan (2nd ed.). Penguin Books, New Delhi, India.
- Hecker, J. F. (1970). Russian sociology: A contribution to the history of sociological thought and theory (Columbia Studies in the Social Sciences Series). CAMS Press, New York, NY, USA.
- Heehs, P. (2004). India's freedom struggle 1857-1947. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Heehs, P. (2013). Situating Sri Aurobindo: A reader. Oxford University Press, New Delhi, India.

- Heelas, P. (Ed.). (1998). Religion, modernity, and postmodernity. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Heidegger, M. (2013). The question concerning technology and other essays. Harper Perennial, New York, NY, USA.
- Helm, J. (Ed.). (1984). Social contexts of American ethnology, 1840-1984. Proceedings of the American Ethnological Society, American Anthropological Association, Washington, DC, USA.
- Hiller, H. W. (1982). Society and change: S.D. Clarke and the development of Canadian sociology. University of Toronto Press, Toronto, Canada.
- Hinkle, R. (1980). Founding theory of American sociology. Routledge & Kegan Paul, Boston, MA, USA.
- Hinzuber, W. (1996). Ideology and status of Sanskrit: Contributions to the history of the Sanskrit language. In J. E. M. Houben (Ed.), Brill's Indological Library (Vol. 13, pp. 1-20). E.J. Brill, Leiden, Netherlands.
- Hofsadter, R. (1955). Social Darwinism in American thought. Beacon Press, Boston, MA, USA.
- Hood, J. W. (2015). The bleeding lotus. Palimpsest, New Delhi, India.
- Horowitz, I. (1969). Sociological self-images: A collective self-portrait. Sage Publications, Beverly Hills, CA, USA.
- Houben, J. E. M. (2002). Philosophy and philology East and West: Need and basis for a global approach. In S. Bhate (Ed.), Indology: Past, present and future (pp. 10-25). Sahitya Akademi, New Delhi, India.
- Huchzermeyer, W. (2013). Sri Aurobindo: Saga of a great Indian sage. Printworld, New Delhi, India.
- Huntington, S. P. (2016). The clash of civilizations and the remaking of world order. Penguin Random House, Gurugram, India.
- Institute of Economic Growth. (1982). Relevance in social research: A symposium. Vikas Publishing House, New Delhi, India.

- Ishwaran, K. (1983). Religion and society among the Lingayats of South India. Brill Academic, Leiden, Netherlands.
- Iyer, R. N. (1999). The essential writings of Mahatma Gandhi. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Iyer, R. N. (2000). The moral and political thought of Mahatma Gandhi. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Jaffrelot, C. (1999). The Hindu nationalist movement and Indian politics: 1925 to the 1990s. Penguin Books, New Delhi, India.
- Jain, R. K. (1977). Text and context: The social anthropology of tradition. Institute for the Study of Human Issues, Philadelphia, PA, USA.
- Jain, R. K. (1999). Muslim identity in North India: A perspective from the Hindu regional novel. Indian Institute of Advanced Study Journal, Shimla, India.
- Jameson, F. (2006). Postmodernism or the cultural logic of late capitalism (Chaps. 1, 9). ABS Publishers, New Delhi, India.
- Janos, A. (1986). Politics and paradigms: Changing theories of change in social science. Stanford University Press, Stanford, CA, USA.
- Jha, V. N. (1991). Proceedings of the National Seminar on Environmental Awareness Reflected in Sanskrit Literature (Publications of the CASS, Class E, No. 11). Poona University, Centre of Advanced Study in Sanskrit, Pune, India.
- Jones, K. W. (1999). Socio-religious reform movements in British India. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Joshi, K. L. (2002). Visnu Purana. Parimal Publications, New Delhi, India.
- Joshi, T. L. (1999). Jotirao Phule. National Book Trust, New Delhi, India.
- Juergensmeyer, M. (2003). Gandhi's way: A handbook of conflict resolution. Oxford University Press, New Delhi, India.

- Kampchen, M. (1999). Rabindranath Tagore in Germany: Four responses to a cultural icon. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Kapoor, K. (2005). Text and interpretation: The Indian tradition. D.K. Printworld, New Delhi, India.
- Karve, I. (1968). Hindu society: An interpretation. Deshmukh Prakashan, Pune, India.
- Kaul, R. K. (1995). Studies in William Jones. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Kearney, R. (2003). Strangers, gods, and monsters: Interpreting otherness. Routledge, London, UK.
- Kejariwal, O. P. (1999). The Asiatic Society of Bengal and the discovery of India's past. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Kent, R. A. (1981). A history of British empirical sociology. Gower, Aldershot, UK.
- Keyserling, H. (1999). Indian travel: Diary of a philosopher. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- Khoshoo, T. N. (2002). Mahatma Gandhi: An apostle of applied human ecology. Tata Energy Research Institute, New Delhi, India.
- Kloetzli, W. R. (2007). Buddhist cosmology: Science and theology in the images of motion and light. Motilal Banarsidass, New Delhi, India.
- Klostermaier, K. K. (1990). A survey of Hinduism. Munshiram Manoharlal, New Delhi, India.
- Kripalani, K. (1969). Gandhi: A life. National Book Trust, New Delhi, India.
- Kripalani, K. (1996). Gandhi's life in his own words. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.
- Kripalani, K. (2001). Tagore: A life. National Book Trust, New Delhi, India.
- Kuklick, H. (1991). The savage within: The social history of British anthropology 1885-1945. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Kulkarni, S. D. (1988). Beginnings of life, culture, and history. Shri Bhagavan Vedavyasa Itihasa, Thane, India.

- Kulke, H., & Rothermund, D. (1990). A history of India. Routledge, New York, NY, USA.
- Kulke, H., & Rothermund, D. (1994). Knowing from words: Western and Indian philosophical analysis of understanding and testimony. Kluwer, Dordrecht, Netherlands.
- Kulke, H., & Schnepel, B. (Eds.). (2001). Jagannath revisited: Studying. Manohar, New Delhi, India.
- Kumar, A. (Ed.). (1999). Nation-building in India: Culture, power, and society. Radiant Publishers, New Delhi, India.
- Kumar, D. (2000). Colonialism, property, and the state. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Kumar, D., & Mookherjee, D. (Eds.). (1998). D-School: Reflections on the Delhi School of Economics. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Kumar, K. (1991). Political agenda of education: A study of colonialist and nationalist ideas. Sage Publications, New Delhi, India.
- Kurosawa, A. (1982). Something like an autobiography. Vintage Books, New Delhi, India.
- Lago, A. D. (2010). Conflict, security and the reshaping of society: The civilization of war. Routledge, London, UK.
- Lal Fountaine, J. S. (Ed.). (1972). The interpretation of ritual: Essays in honour of A. I. Richards. Tavistock, London, UK.
- Lee, M., & Wilding, M. (Eds.). (1997). History, literature, and society: Essays in honour of N. Mukherjee. Manohar, New Delhi, India.
- Lele, J. (1994). Orientalism and social sciences. In C. A. Breckenridge & P. Van der Veer (Eds.), Orientalism and the post-colonial predicament (pp. 45-60). Oxford University Press, New Delhi, India.
- Levi-Strauss, C. (1963). Structural anthropology (Vol. 1). Penguin, London, UK.
- Levi-Strauss, C. (1969). Elementary structures of kinship. Alder Press, London, UK.

- Levi-Strauss, C. (1978). Myth and meaning. Routledge, London, UK.
- Lewis, C. S. (2014). God in the dock: Essays on theology and ethics. Harper Collins, New Delhi, India.
- Lokeswarananda, S. (Ed.). (1992). Indological studies and research in India. The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, India.
- Luckmann, T. (1967). The invisible religion. MacMillan, New York, NY, USA.
- Lucy, N. (Ed.). (2000). Postmodern literary theory: An anthology. Blackwell Publications, Oxford, UK.
- Lukács, G. (1971). The theory of the novel. Merlin Press, Dublin, Ireland. (Original work published 1920)
- Machiavelli, N. (2017). The prince, On war & The art of war: Three all-time classics on politics & war. ARC Manor, Rockville, MD, USA.
- Macgowan, T. (2016). Capitalism and desire: The psychic cost of free markets. Columbia University Press, New York, NY, USA.
- Madan, T. N. (1987). Non-renunciation: Themes and interpretations of Hindu culture. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Madan, T. N. (1988). Way of life: King, householder, renouncer: Essays in honour of Louis Dumont. Motilal Banarsidass Publishers, New Delhi, India.
- Madan, T. N. (1998). Modern myths, locked minds: Secularism and fundamentalism in India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Madan, T. N. (2004). India's religions: Perspectives from sociology and history. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Madan, T. N. (2006). Images of the world: Essays on religion, secularism and culture. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Madan, T. N. (2011). Pathways: Approaches to the study of society in India. Oxford University Press, New Delhi, India.

- Madan, T. N., & Mukherji, P. N. (Eds.). (1986). Indian sociology: Reflections and introspections. Popular Prakashan, Mumbai, India.
- Majumdar, B. B. (1966). Militant nationalism of India. The Asiatic Society, Calcutta, India.
- Majumdar, R. C. (1984). On Rammohan Roy. The Asiatic Society, Calcutta, India.
- Majumdar, U. K. (2000). Bankim Chandra Chattopadhyay. The Asiatic Society, Calcutta, India.
- Malhotra, R. (2016). Academic Hinduphobia: A critique of Wendy Doniger's erotic school of Indology. Voice of India, New Delhi, India.
- Malinowski, B. (1954). Magic, science and religion and other essays. Doubleday Anchor Books, Boston, MA, USA.
- Mallik, S. C. (Ed.). (1977). Dissent, protest and reform in Indian civilisation. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Marriott, M. (Ed.). (1989). India through Hindu category. Sage, New Delhi, India.
- Marx, K., & Engels, F. (1975). On religion. Progress Publisher, Moscow, Russia.
- Masani, R. P. (1897). Dadabhai Naoroji: Builders of modern India. Publications Division, I&B, New Delhi, India.
- Max Muller, F. (1955). Ramakrishna: His life and sayings. Advaita Ashrama, Calcutta, India.
- Max Muller, F. (1991). India: What can it teach us?. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- McEvilley, T. (2002). The shape of ancient thought: Comparative studies in Greek and Indian philosophies. Allworth, New York, NY, USA.
- McLeod, W. H. (2004). Sikhs and Sikhism. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Mennell, S. (1974). Sociological theory: Uses and utilities. Praeger, New York, NY, USA.

- Merton, R. K. (1981). Social theory and social structure. Amerind Publishing, New Delhi, India.
- Metcalf, R. T., & Metcalf, B. D. (2003). A concise history of India. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Migdal, J. S. (2001). State in society: Studying how states and societies transform and constitute one another. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Mills, C. W. (1959). The sociological imagination. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Mohanty, J. N. (1995). Essays on Indian philosophy: Traditional and modern. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Mookerji, R. K. (1989). Hindu civilization. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- Mookerji, R. K. (2003). The fundamental unity of India. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- More, T. (1998). A dialogue of comfort against tribulation. Scepter Publishers, Princeton, NJ, USA.
- Mukherjee, H. (1991). Gandhi: A study. People's Publishing House, New Delhi, India.
- Mukherjee, M. (1985). Realism and reality: The novel and society in India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Mukherjee, M. (2012). Voices of the talking stars. Sage, New Delhi, India.
- Mukherjee, R. (1979). Sociology of Indian sociology. Allied Publishers, New Delhi, India.
- Mukherji, D. P. (2002). Diversities. Manak, New Delhi, India. (Original work published 1952)
- Mukherji, P. N. (Ed.). Methodology in social research. Sage, New Delhi, India.
- Nagaraj, D. R. (1993). The flaming feet: A study of the Dalit movement. South Forum Press, Bangalore, India.
- Nanda, B. R. (2001). Gandhi and his critics. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Nanda, B. R. (2003). Mahatma Gandhi: A biography. Oxford University Press, New Delhi, India.

- Nandy, A. (1998). The illegitimacy of nationalism: Rabindranath Tagore and the politics of self. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Nandy, A. (2001). An ambiguous journey to the city. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Nehru, J. (2004). An autobiography. Penguin Books, New Delhi, India.
- Nehru, J. (2004). Glimpses of world history. Penguin Books, New Delhi, India.
- Nehru, J. (2004). The discovery of India. Penguin Books, New Delhi, India.
- Nevile, P. (2011). K.L. Saigal. Penguin, New Delhi, India.
- Nietzsche, F. (2003). On the genealogy of morals. Dover Publications, New York, NY, USA.
- Niranjana, T., et al. (Eds.). (1993). Interrogating modernity: Culture and colonialism in India. Seagull, Calcutta, India.
- Nirodbaran. (1986). Talks with Sri Aurobindo (Vols. 1-2). Sri Aurobindo Society, Calcutta, India.
- Nirodbaran. (1998). Sri Aurobindo for all ages: A biography. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, India.
- Nisbet, R. (1967). The sociological tradition (Part Two). Heinemann, London, UK.
- Nivedita, S. (1998). Religion and dharma. Advaita Ashram, Calcutta, India.
- O'Flaherty, W. D. (1973). Asceticism and eroticism in the mythology of Siva. School of Oriental and African Studies, Oxford University Press, New Delhi, India.
- Oommen, T. K. (2013). Knowledge and society. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Osho. (1997). India my love: Fragments of a golden past. The Rebel Publishing House, Pune, India.
- Pal, B. C. (2002). Nationality and empire: A running study of some current Indian problems. Low Price Publications, New Delhi, India.
- Pande, B. N. (Ed.). (1985). A centenary history of the Indian National Congress (Vols. 1-3). Vikas Publishing, New Delhi, India.

- Pandit, M. P. (1998). Sri Aurobindo. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Pandya, J. (1998). Gandhiji and his disciples. National Book Trust, New Delhi, India.
- Panja, S. (Ed.). (2001). Many Indias, many literatures: New critical essays. Worldview, New Delhi, India.
- Paranjape, M. (Ed.). (2005). Dharma and development: The future of survival. Samvad India, New Delhi, India.
- Paranjape, M. (2019). Swami Vivekananda: Hinduism and India's road to modernity. HarperCollins, New Delhi, India.
- Parekh, B. (1997). Gandhi. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Parel, J. A. (Ed.). (1997). Hind Swaraj and other writings. Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Pareto, V. (1935). The mind and society (Vols. 1-4). Harcourt, Brace and Company, New York, NY, USA. (Original work published 1916)
- Parsons, T., et al. (Eds.). (1965). Theories of society: Foundation of modern sociological theory. The Free Press, New York, NY, USA.
- Partha, C. (1986). Nationalist thought and the colonial world. Zed Books, London, UK.
- Patel, I. G. (2004). An encounter with higher education: My years at LSE. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Patel, J. P., & Sykes, M. (1996). Gandhi, his gift of the fight. The Other India Press, Goa, India.
- Patil, V. T. (1983). Studies on Gandhi. Karnatak University, Dharwad, India.
- Peter L. Berger. (1969). The sacred canopy. Anchor Doubleday, New York, NY, USA.
- Pickering, W. S. F., & Martins, H. (Eds.). (1994). Debating Durkheim. Taylor & Francis, London, UK.
- Plato. (2013). The Republic. Maple Press, Noida, India.

- Poddar, A. (1976). Renaissance in Bengal: Search for identity. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Poddar, C., Sarkar, M., & Zwicker, B. (Eds.). (1995). Sri Aurobindo and the freedom of India. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, India.
- Pope John Paul II. (1995). A Hindu Buddhist rejoinder. Voice of India, New Delhi, India.
- Prabhu, P. H. (1988). Hindu social organisation. Popular Prakashan, Mumbai, India.
- Purani, A. B. (1995). Evening talks with Sri Aurobindo. Sri Aurobindo Society, Calcutta, India.
- Purani, A. B. (1998). The life of Sri Aurobindo. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, India.
- Radhakrishnan, S. (2009). Hindu view of life. HarperCollins Publishers, New Delhi, India.
- Raina, A. K., Patnaik, B. N., & Chadha, M. (Eds.). (2000). Science and tradition. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Raina, D., & Habib, I. (2004). Domesticating modern science. Tulika Books, New Delhi, India.
- Rajagopalachari, C. (1996). Our culture. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- Ramanujan, A. K. (1999). The collected essays (V. Dharwadker, Ed.). Oxford University Press, New Delhi, India.
- Ramanujan, A. K. (2005). Uncollected poems and prose. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Ranade, R. D. (2001). Essays and reflections. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- Rathore, A. S., & Mohapatra, R. (2017). Hegel's India: A reinterpretation. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Ray, R. (1832). Translation of several principal books, passages and texts of the Veds, and of some controversial works on Brahminical theology. London, UK.

- Ray, R. (1949). Tuhfatul Muwahhiddin (O. El Obaide, Trans.). The Asiatic Society, Calcutta, India.
- Raychaudhari, T. (1998). Europe reconsidered: Perceptions of the West in nineteenth century Bengal. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Raychaudhari, T., & Habib, I. (Eds.). (2004). The Cambridge economic history of India: Vol. 1 (c. 1200-1750). Orient Longman, New Delhi, India.
- Reddy, A., & Mohanty, S. (1997). Essentials of Sri Aurobindo's thought: Essays in memory of V. Madhusudan Reddy. Institute of Human Study, Hyderabad, India.
- Renzetti, C. M., & Curran, D. J. (1998). Living sociology. Allyn and Bacon, Boston, MA, USA.
- Rice, S. (1937). Hindu customs and their origins. Low Price Publications, New Delhi, India.
- Robertson, B. C. (2001). Raja Rammohan Roy: The father of modern India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Robinson, R. (Ed.). (2004). Sociology of religion in India. Sage, New Delhi, India.
- Rodrigues, V. (2004). The essential writings of B.R. Ambedkar. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Rolland, R. (2000). Mahatma Gandhi: The man who became one with the universal being. Sristi Publishers and Distributors, New Delhi, India.
- Roy, P. (2002). Rabindranath Tagore. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Roy, R. (1996). Gandhi and the present global crisis. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, India.
- Rudolph, S. H., & Rudolph, L. I. (1987). Gandhi: The traditional roots of charisma. Orient Longman, Hyderabad, India.
- Rundell, J., & Mennell, S. (Eds.). (1998). Classical readings in culture and civilization. Routledge, London, UK.
- Ruskin, J. (2000). Unto this last. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.

- Sahasrabudhey, S. (2002). Gandhi's challenge to modern science. Other India Press, Goa, India.
- Sahni, P. (2019). The non-conformist: Memories of my father Balraj Sahni. Penguin, New Delhi, India.
- Sankrityayan, R. (1984). Selected essays. People's Publishing House, New Delhi, India.
- Saran, A. K. (1996). Illuminations: A school for the regeneration of man's experience, imagination and intellectual integrity. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (1996). Traditional thought: Toward an axiomatic approach. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (1998). Sociology of knowledge and traditional thought. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (1998). Traditional vision of man. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (1999). Takamori lecture: The crisis of mankind. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (2000). The Marxian theory of social change: A logico-philosophical critique. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (2003). Meaning and truth: Lectures on the theory of language: A prolegomena to the general theory of society and culture. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (2007). Hinduism in contemporary India. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saran, A. K. (2007). On the theories of secularism and modernisation. Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, India.
- Saraswati. (1997). H. H. Sri Chandrasekharendra. Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi, India.
- Sardar, Z. (1998). Postmodernism and the other: The new imperialism of Western culture. Pluto Press, London, UK.

- Sardar, Z. (2002). Orientalism. Viva Books, New Delhi, India.
- Sareen, S. K., & Paranjape, M. (Eds.). (2004). Sabda: Text and interpretation in Indian thought. Mantra Books, New Delhi, India.
- Sarkar, B. K. (1975). The Sukraniti. Orientals Books, New Delhi, India.
- Satchidanandan, K. (2002). Welcome address. In S. Bhate (Ed.), Indology: Past, present and future (pp. 1-5). Sahitya Akademi, New Delhi, India.
- Savarkar, V. D. (1999). Hindutva: 'Hindus we are & love to remain so!'. Swatantryaveer Savarkar Rashtriya Smarak, Mumbai, India.
- Sen, A. (1977). Elusive milestone of Ishwarchandra Vidyasagar. The Asiatic Society, Calcutta, India.
- Sen, A. K. (1986). Hindu political thought. Gian Publishing House, New Delhi, India.
- Sen, G. (Ed.). (1993). Perceiving India: Insight and inquiry. Sage Publications, New Delhi, India.
- Shah, K. (Ed.). (1985). Vinoba on Gandhi. Sarva Seva Sangh Prakashan, Varanasi, India.
- Sharma, A. (2002). Modern Hindu thought. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Sharma, A. (2014). Hinduism as a missionary religion. State University of New York Press, Albany, NY, USA.
- Sharma, A. (2017). The ruler's gaze: A study of British rule over India from a Saidian perspective. HarperCollins, New Delhi, India.
- Sharma, A. (2023). Textual studies in Hinduism. Manohar Publishers, New Delhi, India.
- Sharma, A. (2024). From fire to light: Rereading the Manusmriti. HarperCollins, New Delhi, India.
- Sharma, A. K. (2011). Religion and culture in Indian civilisation. DK Print World, New Delhi, India.
- Sharma, A. K. (2011). Symbols of kinship identity in a North Indian village. Lap Lambert Academic Publishing, Saarbrücken, Germany.

- Sharma, A. K. (2024). Indology, sociology and culture in India. Shaolin Publications, New Delhi, India.
- Sharma, A. K. (2024). Sociology of cinema and culture in India. Shaolin Publications, New Delhi, India.
- Sharma, S. L., & Oommen, T. K. (2000). Nation and national identity in South Asia. Orient Longman, New Delhi, India.
- Shibutani, T. (Ed.). Human nature and collective behavior: Papers in honor of Herbert Blumer. Routledge, London, UK.
- Silverman, H. J. (Ed.). (1998). Cultural semiosis: Tracing the signifies. Routledge, London, UK.
- Singer, M. (1986). Man's glassy essence: Explorations in semiotic anthropology. Indiana University Press, Bloomington, IN, USA.
- Singh, K. (2004). A history of the Sikhs (Vols. 1-2). Oxford University Press, New Delhi, India.
- Singh, R. (Ed.). (2003). The path of the Buddha: Writings on contemporary Buddhism. Penguin, New Delhi, India.
- Singh, Y. (1983). Image of man: Ideology and theory in Indian sociology. Chanakya Publications, New Delhi, India.
- Singh, Y. (1986). Indian sociology: Social conditioning and emerging concerns. Vistaar Publications, New Delhi, India.
- Singh, Y. (2000). Culture change in India. Rawat Publications, Jaipur, India.
- Singh, Y. (2004). Indology and theory in Indian sociology. Rawat Publications, Jaipur, India.
- Smith, D. (2002). Hinduism and modernity: Religion and spirituality in the modern world. Wiley-Blackwell, New Delhi, India.
- Spengler, O. (2006). The decline of the West. Vintage, New York, NY, USA.
- Spengler, O. (2015). Man and technics: A contribution to a philosophy of life. Arktos Media, London, UK.

- Srinivas, M. N. (1968). Religion and society among the Coorgs of South India. Asia Publishing House, Mumbai, India.
- Srivastava, S., Yasmeen, A., & Janaki, A. (Eds.). (2018). Critical themes in Indian sociology. SAGE Publications, New Delhi, India.
- Staal, J. F. (1993). Concepts of science in Europe and Asia. International Institute for Asian Studies, Leiden, Netherlands.
- Staal, J. F. (1995). The Sanskrit of science. Journal of Indian Philosophy, 23, 73-127. Springer, Dordrecht, Netherlands.
- Strinati, D. (1995). An introduction to theories of popular culture. Routledge, London, UK.
- Subrahmanyam, S. (2017). Europe's India: Words, people, empires, 1500–1800. Harvard University Press, Cambridge, MA, USA.
- Sun, T. (2008). The complete art of war. Wilder Publications, Radford, VA, USA.
- Swaminathan, K., & Patel, C. N. (1988). A Gandhi reader. Orient Longman, Bengaluru, India.
- Swartz, D. (1998). Culture and power: The sociology of Pierre Bourdieu. University of Chicago Press, Chicago, IL, USA.
- Swarup, R. (1991). Whither Sikhism?. Voice of India, New Delhi, India.
- Swarup, R. (1992). Hinduism vis-a-vis Christianity and Islam. Voice of India, New Delhi, India.
- Swarup, R. (1995). A Hindu Buddhist rejoinder. Voice of India, New Delhi, India.
- Swarup, R. (2000). Meditations: Yogas, gods, religions. Voice of India, New Delhi, India.
- Swarup, R. (2000). On Hinduism: Reviews and reflections. Voice of India, New Delhi, India.
- Swarup, R. (2001). The world as revelation, names of gods. Voice of India, New Delhi, India.

- Tambiah, S. J. (1990). Magic, science and the scope of rationality (Lewis Henry Morgan Lectures). Cambridge University Press, Cambridge, UK.
- Tarachand. (1961). History of the freedom movement in India (Vol. 1). Publication Division, I&B, New Delhi, India.
- Teltscher, K. (1995). India inscribed: European and British writing on India 1600-1800. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Thapar, R. (1999). Interpreting early India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- The Mother. (1995). Commentaries on the Dhammapada. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, India.
- Tirtha, S. B. K. (1985). Sanatana dharma: The eternal and everlasting way of life. Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, India.
- Tolkien, J. R. R. (2008). Tales from the perilous realm. Harper Collins, New Delhi, India.
- Tonnies, F. (1988). Community and society. Library of Congress, Washington, DC, USA.
- Trautmann, T. R. (2004). Aryans and British India. Yoga Press, New Delhi, India.
- Trautmann, T. R. (2009). The Madras School of Orientalism: Producing knowledge in colonial South India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Tripathi, G. C., & Kulke, H. (Eds.). (1994). Religion and society in Eastern India. Manohar, New Delhi, India.
- Turner, B. (1978). Weber and Islam: A critical study. Routledge & Kegan Paul, London, UK.
- Turner, B. (1991). Religion and social theory. Sage, London, UK.
- Turner, S. P. (Ed.). (1996). Social theory and sociology: The classics and beyond. Blackwell, Oxford, UK.
- Tyson, N. D. (2018). Accessory to war. W. W. Norton & Company, New York, NY, USA.

- Uberoi, J. P. S. (1974). New outlines of structural sociology: 1945-1970. Contribution to Indian Sociology (N.S), 8, 1-20. Sage, New Delhi, India.
- Uberoi, J. P. S. (1992). Family, kinship and marriage in India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Uberoi, J. P. S. (1999). Religion, civil society and the state: A study of Sikhism. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Uberoi, J. P. S. (2002). The European modernity. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Uberoi, J. P. S. (2009). Freedom and destiny: Gender, family and popular culture in India. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Van der Veer, P. (2001). Imperial encounters. Permanent Black, New Delhi, India.
- Van Gennep, A. (1960). Rites of passage. University of Chicago Press, Chicago, IL, USA.
- Vasu, R. B. S. (2004). The Siva Samhita. Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, India.
- Venet, L. (2017). Sri Aurobindo and the revolution of India. Createspace Independent Publication, Scotts Valley, CA, USA.
- Venugopal, C. N. (1988). Ideology and society in India: Sociological essays. Criterion Publications, New Delhi, India.
- Venugopal, C. N. (2009). Religion and Indian society: A sociological perspective. Gyan Book, New Delhi, India.
- Visvanathan, S. (1993). The Christians of Kerala. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Vivekananda, S. (1993). Talks with Swami Vivekananda. Advaita Ashram, Calcutta, India.
- Vivekananda, S. (2001). Lectures from Colombo to Almora. Advaita Ashrama, Kolkata, India.
- Vyas, H. M. (Comp.). (1996). Village Swaraj. Navajivan Publishing House, Ahmedabad, India.

- Vyas, R. T. (1992). Oriental Institute Baroda: Retrospect and prospect. In S. Lokeswarananda (Ed.), Indological studies and research in India (pp. 100-115). The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, India.
- Wadley, S. (1975). Shakti: Power in the conceptual structure of Karimpur religion. The University of Chicago Press, Chicago, IL, USA.
- Waite, A. E. (Ed.). (1976). The hermetic and alchemical writings of Paracelsus: Vol. II. Hermetic medicine and hermetic philosophy. Shambhala, Boulder, CO, USA.
- Weber, M. (1989). Science as a vocation (P. Lasman et al., Eds.). Unwin Hyman, London, UK.
- Weber, M. (1993). The religion of India: The sociology of Hinduism and Buddhism. Beacon Press, Boston, MA, USA.
- Weber, M. (1993). The sociology of religion. Beacon Press, Boston, MA, USA.
- Wedderburn, W. (1913). Allan Octavian Hume, C.B.. London, UK.
- Williams, R. B., & Trivedi, Y. (Eds.). (2016). Swaminarayan Hinduism: Tradition, adaptation, and identity [Kindle]. Oxford University Press, New Delhi, India.
- Woodroffe, J., & Pandit, M. P. (1965). Kulnarva Tantra. Ganesh & Company, Madras, India.
- Woodroffe, J. (1990). Introduction to Tantra Sastra. Ganesh & Company, Madras, India.
- Yinger, J. M. (1970). The scientific study of religion. MacMillan, New York, NY, USA.

❐❐